Printed by Bishweshwar Prasad,
at The Indian Press, Ltd., Benares-Branch.

परिचय

जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत में खेतड़ी राज्य है। वहाँ के राजा श्रीअजीतसिंहजी बहादुर बड़े यशस्वी और विद्याप्रेमी हुए। गणितशास्त्र में उनकी अद्भुत गति थी। विज्ञान उन्हें बहुत प्रिय था। राजनीति में वह दक्ष और गुणग्राहिता में अद्वितीय थे। दर्शन और अध्यात्म की रुचि उन्हें इतनी थी कि विलायत जाने के पहले और पीछे स्वामी विवेकानंद उनके यहाँ महीनों रहे। स्वामीजी से घंटों शास्त्र-चर्चा हुआ करती। राजपूताने में प्रसिद्ध है कि जयपुर के पुण्यश्लोक महाराज श्रीरामसिंहजी को छोड़कर ऐसी सर्वतोमुख प्रतिभा राजा श्रीअजीतसिंहजी ही में दिखाई दी।

राजा श्रीअजीतसिंहजी की रानी आउआ (मारवाड़) की चाँपावत-जी के गर्भ से तीन संतति हुईं—दो कन्या, एक पुत्र। ज्येष्ठ कन्या श्रीमती सूरजकुँवर थीं जिनका विवाह शाहपुरा के राजाधिराज सर श्रीनाहरसिंहजी के ज्येष्ठ चिरंजीव और युवराज राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी से हुआ। छोटी कन्या श्रीमती चाँदकुँवर का विवाह प्रतापगढ़ के महारावल साहब के युवराज महाराजकुमार श्रीमानसिंहजी से हुआ। तीसरी संतान जयसिंहजी थे जो राजा श्रीअजीतसिंहजी और रानी चाँपावतजी के स्वर्गवास के पीछे खेतड़ी के राजा हुए।

इन तीनों के शुभचिन्तकों के लिए तीनों की स्मृति संचित कर्मों के परिणाम से दुःखमय हुई। जयसिंहजी का स्वर्गवास सत्रह वर्ष की अवस्था में हुआ और सारी प्रजा, सब शुभचिन्तक, संबंधी, मित्र और गुरुजनों का हृदय आज भी उस आँच से जल ही रहा है। अश्वत्थामा के व्रण की तरह यह घाव कभी भरने का नहीं। ऐसे आशामय जीवन का ऐसा निराशात्मक परिणाम कदाचित् ही हुआ हो। श्रीसूर्यकुँवर बाईजी को एक मात्र भाई के वियोग की ऐसी ठेस लगी कि दो ही तीन वर्ष में उनका शरीरांत हुआ। श्रीचाँदकुँवर बाईजी को वैधव्य की विषम यातना भोगनी पड़ी और भ्रातृ-वियोग और पति-वियोग दोनों का असह्य दुःख

ये झेल रही हैं। उनके एकमात्र चिरंजीव प्रतापगढ़ के कुँवर श्रीरामसिंह-जी से मातामह राजा श्रीअजीतसिंहजी का कुल प्रजावान् है।

श्रीमती सूर्यकुमारीजी के कोई संतति जीवित न रही। उनके बहुत आग्रह करने पर भी राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी ने उनके जीवन-काल में दूसरा विवाह नहीं किया। किंतु उनके वियोग के पीछे, उनके आज्ञानुसार कृष्णगढ़ में विवाह किया जिससे उनके चिरंजीव वंशांकुर विद्यमान हैं।

श्रीमती सूर्यकुमारीजी बहुत शिक्षिता थीं। उनका अध्ययन बहुत विस्तृत था। उनका हिंदी का पुस्तकालय परिपूर्ण था। हिंदी इतनी अच्छी लिखती थीं और अक्षर इतने सुन्दर होते थे कि देखनेवाला चमत्कृत रह जाता। स्वर्गवास के कुछ समय के पूर्व श्रीमती ने कहा था कि स्वामी विवेकानंदजी के सब ग्रंथों, व्याख्यानों और लेखों का प्रामाणिक हिंदी अनुवाद मैं छपवाऊँगी। बाल्यकाल से ही स्वामीजी के लेखों और अध्यात्म, विशेषतः अद्वैतवेदान्त, की ओर श्रीमती की रुचि थी। श्रीमती के निर्देशानुसार इसका कार्यक्रम बाँधा गया। साथ ही श्रीमती ने यह इच्छा प्रकट की कि इस संबंध में हिंदी में उत्तमोत्तम ग्रंथों के प्रकाशन के लिए एक अक्षय नीवी की व्यवस्था का भी सूत्रपात हो जाय। इसका व्यवस्थापत्र बनते न बनते श्रीमती का स्वर्गवास हो गया।

राजकुमार श्रीउमेदसिंहजी ने श्रीमती की अंतिम कामना के अनुसार लगभग एक लाख रुपया श्रीमती के इस संकल्प की पूर्ति के लिए विनि-योग किया। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के द्वारा इस ग्रंथमाला के प्रकाशन की व्यवस्था हुई है। स्वामी विवेकानंदजी के यावत् निबन्धों के अतिरिक्त और भी उत्तमोत्तम ग्रंथ इस ग्रंथमाला में छापे जायँगे और लागत से कुछ ही अधिक मूल्य पर सर्व साधारण के लिए सुलभ होंगे। इस ग्रंथ-माला की बिक्री की आय इसी अक्षय नीवी में जोड़ दी जायगी। यों श्रीमती सूर्यकुमारी तथा श्रीमान उमेदसिंहजी के पुण्य तथा यश की निरंतर वृद्धि होगी और हिंदी भाषा का अभ्युदय तथा उसके पाठकों का ज्ञान-लाभ।

श्रीचंद्रधर शर्मा

शुद्धि पत्र

—०—

निकाल दीजिए

(भूमिका)

पृष्ठ	पंक्ति	
३१	१३	(क) नेकु...लैरी
३१	१५	कनिया

बना दीजिए

(भूमिका)

६	८	"प्राण कै" के स्थान पर "प्राण के"
६	१६	"ससे" .... "इससे"
१२	३	"उसकी" .... "उसके"

(पुस्तक)

७२	७	"नीर भरे...हेर्यो"...नीर भरे निज नयन कुँवर नभ ओर उठाई । दिव्य दया सों दीस दृष्टि इत उत दौराई ।
८६	२०	"उपजाय" ....उपाय

विशेष—उत्तम पुरुष की भूतकालिक क्रिया के अंत में जहाँ कहीं चंद्रबिंदु या अनुस्वार हो निकाल दीजिए ।

वक्तव्य

रामकृष्ण की इसी लीलाभूमि पर भगवान् बुद्धदेव भी हुए हैं जिनके प्रभाव से एशियाखंड का सारा पूर्वार्द्ध भारत को इस गिरी दशा में भी प्रेम और श्रद्धा की दृष्टि से देखता चला जा रहा है। रामकृष्ण के चरितगान का मधुर स्वर भारत की सारी भाषाओं में गूँज रहा है पर बौद्ध धर्म के साथ ही गौतम बुद्ध की स्मृति तक जनता के हृदय से दूर हो गई है। 'भरथरी' और गोपीचंद के जोगी होने के गीत गा कर आज भी कुछ रमते जोगी स्त्रियों को करुणार्द्र करके अपना पेट पालते चले जाते हैं पर कुमार सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण की सुध दिलानेवाली वाणी कहीं नहीं सुनाई पड़ती है। जिन बातों से हमारा गौरव था उन्हें भूलते भूलते आज हमारी यह दशा हुई।

यह 'बुद्ध-चरित' अँगरेज़ी के Light of Asia का हिंदी काव्य के रूप में अवतरण है। यद्यपि ढंग इसका ऐसा रखा गया है कि एक स्वतंत्र हिंदी काव्य के रूप में इसका ग्रहण हो पर साथ ही मूल पुस्तक के भावों को स्पष्ट करने का भी पूर्ण प्रयत्न किया गया है। दृश्य वर्णन जहाँ अयुक्त या अप-

यांन प्रतीत हुए वहाँ बहुत कुछ फेरफार करना या बढ़ाना भी पड़ा है। अँगरेज़ी अलंकार जो हिन्दी में आनेवाले नहीं थे वे खोल दिए गए हैं; जैसे मूल में यह वाक्य था—

..............Where the Teacher spake

Wisdom and power,

इसमें Hendiadys नामक अलंकार था जिसमें किसी संज्ञा का गुणवाचक शब्द उसके आगे एक संयोजक शब्द डालकर संज्ञा बना कर रख दिया जाता है—जैसे, ज्ञान और ओज = ओजःपूर्ण ज्ञान। उक्त वाक्य हिंदी में इस प्रकार किया गया है—"ओजपूर्ण अपूर्व भाख्यो ज्ञान श्रीभगवान्।" तात्पर्य यह कि मूल के भावों का भी पूरा ध्यान रखा गया है। शब्द बौद्ध शास्त्रों में व्यवहृत रखे गए हैं। उनकी व्याख्या भी फुटनोट में कर दी गई है। कुछ चित्र भी दिए गए हैं जो काशी के कुशल चित्रकार श्रीयुत केदारनाथ द्वारा अंकित हैं। यदि काव्य-परंपरा के प्रेमियों का कुछ भी मनोरंजन होगा तो मैं अपना श्रम सफल समझूँगा।

जिस वाणी में कई करोड़ हिंदीभाषी रामकृष्ण के मधुर चरित का स्मरण करते आ रहे हैं उसी वाणी में भगवान् बुद्ध को स्मरण कराने का यह लघु प्रयत्न है। यद्यपि यह वाणी व्रजभाषा के नाम से प्रसिद्ध है पर वास्तव में अपने संस्कृत रूप में यह सारे उत्तरापथ की काव्यभाषा रही है और है।

———

काव्यभाषा

प्राकृत-काल

प्राचीन आर्यभाषा की भिन्न भिन्न स्थानों की बोलियों को थोड़ा बहुत समेट कर, पर पश्चिमोत्तर की 'भाषा' का ढाँचा आधारवत् रख कर, जिस प्रकार संस्कृत खड़ी हुई उसी प्रकार पीछे से यह काव्यभाषा भी पछाहँ की बोली (व्रज से लेकर मारवाड़ और गुजरात तक की) का आधार रख कर, और और बोलियों को भी थोड़ा बहुत समेटती हुई, चली और बहुत दिनों तक केवल अपभ्रंश या भाषा ही कहलाती रही। काव्यभाषा में पच्छिमी बोली की प्रधानता का कारण यह है कि कविता राजाश्रय पा कर हुआ करती थी और इधर हज़ार बारह सौ वर्ष से राजपूतों की बड़ी बड़ी राजधानियाँ राजपूताने, गुजरात, मालवा, दिल्ली आदि मेँ ही रहीं। हेमचंद्र ने जिस अपभ्रंश का उल्लेख अपने व्याकरण में किया है वह पछाहीं भाषा है जिसका व्यवहार व्रजमंडल से लेकर राजपूताने और गुजरात तक था। इस बात को उन्होंने "शेष शौरसेनीवत्" कह कर स्पष्ट कर दिया है। अपभ्रंश के जो दोहे उन्होंने दिए हैं वे पछाहीं भाषा के हैं। प्रबंधचिंतामणि

और कुमारपाल प्रतिबोध आदि ग्रंथों में भी जो पद्य हैं उनका ढाँचा पच्छिमी हिंदी का है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

(१) अम्मणिओ **संदेसडओ** तारय कन्ह कहिज्ज।
जग दालिद्दिहि **डुब्बिअउं** बलिबंधणह मुहिज्ज।

(२) जेह आसावरि देहा **दिन्हउ**। सुस्थिर डाहररज्जा **लिन्हउ**।

(३) सउचित्त हरिसट्ठी मम्मणह वत्तीस **डीहियाँ**
हियम्मि ते नर दड्ढ सीझै जे वीससइ **थियाँ**।

(४) जइ यह रावण **जाइयउ** दहमुह इक्कु सरीर।
जणणि वियंभी चिंतवइ कवणु पियावउँ खीर।

(५) **उड्डावियउ** वराउ।

(६) माणुसडा दस दस दसा सुनियइ लोय पसिद्ध।
मह कंतह **इक्कुज** दसा अवरि ते चोरिहि लिद्ध।

---

(१) हमारा संदेसा तारक (तारनेवाले) कान्ह को कहना। जगत दारिद्र्य में डूबा है, बलि के बंधन को छोड़ दीजिए।

(२) जिसने आसावरि देश दिया, सुस्थिर डाहर राज्य लिया।

(३) सब चित्तों को हरने के लिये काम की बातों में दक्ष स्त्रियों पर जो विश्वास करते हैं वे नर हृदय में बहुत सीझते (संताप सहते) हैं।

(४) जब यह दस मुँह और एक शरीरवाला रावण उत्पन्न हुआ, (तब) माता अचंभे में आई हुई सोचती है कि किसको दूध पिलाऊँ।

(५) उड़ा दिया (गया) बेचारा।

(६) मनुष्य की दस दशाएँ लोक में प्रसिद्ध सुनी जाती हैं, (पर) मेरे कंत की एक ही दशा (दारिद्र्य) है और जो थीं वे चोरों ने हर लीं।

(७) राणा सव्वे वाणिया जेसलु **वड्डुउ** सेठि।

(८) एहुँ **जाणेवउँ** जइ मणसि तो जिण आगम जोइ।

(९) एकला **आइबो,** एकला **जाइबो** हाथ पग वे झाड़ो।

(१०) झाली तुट्टी किं न मुउ किं न **हुयउ** छार पुंज।

हिंडइ दोरी **बंधीअउ** जिम मक्कड़ तिम मुंज।

इन पद्यों में हम व्रजभाषा के भूतकाल और पुं० कर्त्ता और कर्मकारक के रूपों के बीज पाते हैं जैसे संदेसडओ (आधुनिक संदेसड़ो); वड्डुउ (=बड्डो=बड़ो); दिन्हउ, लिन्हउ (=दीन्हो, लीन्हो); डुव्बिउ (=डूब्यो); जाईयउ (=जायो); उड्डावियउ (=गुजराती उड़ावियो=व्रज० उड़ायो); हुयउ (=हुओ); बँधीअउ (=बँध्यो)। क्रिया के पुरुषकाल-वर्जित साधारण रूप 'जाणेवउँ' (पुराना), 'आइबो', 'जाइबो' भी मौजूद हैं। संज्ञा के बहुवचन रूप भी हैं जो अवधी आदि पूरबी भाषाओं में बिना कारकचिह्न लगे नहीं होते जैसे, 'डीहियाँ थियाँ'=बढ़ी चढ़ी स्त्रियाँ। स्त्रीलिंग विशेषणों में भी विशेष्य बहुवचन के अनुसार विशेषण का बहुवचन रूप होना अभी थोड़े दिनों पहले था और वली आदि उर्दू के पुराने शायरों में क्या

---

(७) सब राणा बनिये हैं, जैसल बड़ा सेठ है।

(८) यह जानना यदि मन में है तो जिनागम देख।

(९) अकेले आना, अकेले जाना दोनों हाथ पैर झाड़ कर।

(१०) जल कर या टूट कर क्यों न मरा, राख क्यों न हो गया? जैसे बंदर वैसे मुंज डोरी में बँधा घूमता है।

इंशा की 'ठेठ हिंदी की कहानी' तक में बराबर मिलता है। इक्कज (= एक ही) तो शुद्ध मारवाड़ी और गुजराती है।

काव्य की यह भाषा बहुत प्राचीन काल में बन चुकी थी। यही हिंदी की काव्यभाषा का पूर्वरूप है। ढाँचा पच्छिमी होने पर भी यह काव्य की सामान्य भाषा थी जिसका प्रचार सारे उत्तरापथ में था। इसका प्रमाण इसी बात से मिलता है कि प्राकृतों के समान इसमें देशभेद करने की आवश्यकता नहीं समझी गई। प्राकृत व्याकरणों में जिसका उल्लेख अपभ्रंश के नाम से हुआ है काव्यभाषा के रूप में उसका प्रचार ब्रज, मारवाड़ और गुजरात तक ही नहीं था एक प्रकार से सारे उत्तरीय भारत में था। इस व्यापकत्व के लिए यह आवश्यक था कि उसमें अवध आदि मध्यदेश के शब्द और रूप भी कुछ मिलें। जिन स्थानों में ऊपर दिए हुए उदाहरण हैं उन्हीं में ऐसे रूपांतरों के भी उदाहरण हैं जो अवधी और खड़ी बोली का आभास देते हैं।

(११) नव जल **भरिया** मग्गड़ा गयणि धड़क्कइ मेहु
इत्थंतरि जरि आविसिइ तउ जाणीसिइ नेहु।

(१२) **कसुकरु** रे पुत्त कलत्त धी, **कसुकरु** रे करसण वाड़ी?

(१३) मइ, सउ खंगारिहि प्राणकइ वइसानर होमीइ।

---

(११) नए जल से भरा हुआ रास्ता, गगन में मेघ धड़कता है। इस अंतर में जो (तू) आएगा तो तेरा नेह जाना जायगा।

(१२) किस का रे पुत्र कलत्र और कन्या, किसकी रे खेती बारी?

(१३) (मैं) सती खेंगार के साथ प्राण को वैश्वानर में होमती हूँ।

(१४) महिवीढह सचराचरह जिण सिर **दिन्हा** पाय ।

(१५) अड़विहि पत्ती नइहि जलु तो वि न **बूहा** हत्थ ।

(१६) एक्के दुन्नय जे **कया** तेहि नीहरिय घरस्स ।

(१७) कुलु कलंकिउ, मलिउ माहप्पु, मलिणी**कय** सयणमुह । **दिन्न** हत्थु नियगुण कडप्पह जगु झंपियो अवजसिण ।

(१८) भुवणि वसंत **पयट्ठ** ।

(१९) मह सग्गगयस्स वि पिट्ठि **लग्ग** ।

(२०) भल्ला हुआ जु **मारिआ** वहिणि महारा कंतु ।

ऊपर के अवतरणों* के ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं—क्रिया के भूतकालिक रूप—'भरिया' (खड़ी बोली और

---

(१४) पृथ्वी की पीठ पर जिसने सचराचर के सिर पर पाँव दिया ।

(१५) अटवी (= जंगल) की पत्ती, नदी का जल (था) तो भी हाथ न हिलाया ।

(१६) एक दुर्नय (अनीति) जो किया उससे निकली घर से ।

(१७) कुल कलंकित किया, माहात्म्य मल दिया, सज्जनों का मुँह मलिन किया, अपने गुण कलाप को हाथ दिया (धक्का देकर निकाल दिया), जगत् ढाक दिया अपयश से ।

(१८) भुवन में बसंत पैठा ।

(१९) मुझ स्वर्ग गए की भी पीठ लगे ।

(२०) भला हुआ जो मारा गया, बहिन, हमारा कंत ।

*यहाँ तक अपभ्रंश के ये उदाहरण नं० २ को छोड़ कर नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में प्रकाशित श्रीयुत पंडित चंद्रधरजी गुलेरी, बी० ए०, के 'पुरानी हिंदी' नामक लेख से लिए गए हैं ।

पंजाबी का पुराना रूप, जैसे, टपका लागा फूटिया कछु नहिं आया हाथ—कबीर। आधु० पंजाबी भर्या, खड़ी और अवधी भरा) 'दिन्हा'=दिया, वूहा = हिलाया, व्यूहित किया, कया=किया (खड़ी और अवधी के रूप)। दिन्नु =दिया (अवधी 'दीन' का पूर्व रूप); पयट्ठु=पैठा (अवधी 'पैठ'); 'लग्ग'=लगा (अवधी 'लाग' का पूर्व रूप)। संबंधकारक सर्वनाम 'कसु करु' = (खड़ी० किस का ; अवधी केहि कर)। कर्मचिह्न—'प्राणकइ' (अवधी 'प्राण कै' = प्राण को)।

ये उदाहरण विक्रम की १२वीं, १३वीं और १४वीं शताब्दी में बने ग्रंथों से लिए गए हैं पर इन में से अधिकतर संगृहीत हैं और संग्रहकाल से बहुत पहले के हैं। कुछ तो मुंज और भोज के समय (सं० १०३६) के हैं। इस प्रकार हिन्दी की काव्यभाषा के पूर्व रूप का पता विक्रम की ११वीं शताब्दी से लगता है। जैसा पहले कहा जा चुका है यद्यपि इस भाषा का ढाँचा पच्छिमी (व्रज का सा) था पर यह साहित्य की एक व्यापक भाषा हो गई थी। इस व्यापकता के कारण और प्रदेशों के शब्द और रूप भी इसके भीतर आ गए थे। ऊपर उद्धृत कविताएँ टकसाली भाषा की हैं और प्रायः पछाँह के चारणों और कवियों की रची हैं ससे उनमें पंजाबी और अवधी ही तक के रूप मिलते हैं। पर 'प्राकृत पिंगलसूत्र' में और पीछे के काल तक की (हम्मीर के समय तक की) तथा और पूरबी प्रदेशों की कविताओं के नमूने भी

हैं। नीचे दिए हुए पद्यों में अलग अलग बोलियों के नमूने चुनिए—

(१) कोहे **चलिअ** हम्मीर वीर गअजुह संजुत्ते।
किअउ कठ्ठ हाकंद मुच्छि[1] मेच्छिअ[2] के पुत्ते।

(२) चंचल जुव्वण जात ण जाणहि छइल्ल समप्पइ **काइँ** णहीं?

(३) कासीसर राणा **किअउ पआणा** विज्जाहर[3] भण मंतिवरे।

(४) ढोल्ला[4] **मारिअ** ढिल्लि[5] **महँ** मुच्छिव[6] मेच्छ सरीर।

(५) हमिर वीर जब रण **चलिआ**। तुरअ तुरअहि **जुज्झिया**। अप्प पर णहि **बुज्झिया**।

(६) विणास **करू**। गिरि हत्थ **धरू**।

(७) तुम्हाण, अम्हाण। चंडेसो, **रक्खे** सो। गोरी **रक्खो**।

(८) भवाणी **हसंती**। दुरित्तं **हरंती**।

(९) सो हर **तोहर**। संकट संहर।

(१०) पसण्ण **होउ** चंडिआ।

(११) सरस्सई[7] पसण्ण **हो**।

(१२) वित्तक **पूरल** मुंदहरा[8]। बरिसा समआ सुक्खकरा।

(१३) अहि ललइ, महि चलइ **मुअल** जिवि उट्ठए।

(१४) राजा जहा लुद्ध। पंडीअ[9] **हो** मुद्ध।

(१५) जे जे सेता वण्णीआ, **तुम्हा** कित्ती जिण्णीआ।

---

(१) मूर्च्छित होकर। (२) म्लेच्छों। (३) विद्याधर। (४) ढोल, डंका (५) दिल्ली। (६) मूछयौ = मूर्च्छित हुआ। (७) सरस्वती। (८) मुंदहरा = मुँडगृह = मुँडेरा। (९) पंडित।

(१६) **चल** कमल-णअणिआ। खलइ थण-वसणिआ।

(१७) मण मज्झ वम्मह[1] **ताव**। णहु कंत अज्जु वि **आव**।

(१८) णच्चे विज्जू पिय सहिआ। **आवे** कंता, सहि, **कहिआ!**

(१९) सोउ जुहिट्ठिर संकट **पाआ**। देवक लेखिअ केण **मिटाआ**

(२०) **गज्जउ** मेह कि अंबर सामर। **फुल्लउ** णीव,[2] कि **बुल्लउ** भम्मर। एक्कउ जीअ पराहिण[3] अम्मह। की लउ पाउस, की लउ वम्मह।

(२१) कालिका संगामे...। णच्चंती संहारो। दूरित्ता **हम्मारो**

(२२) हत्थी जूहा। **सज्जा हूआ**।

(२३) तरुण तरणि तवइ धरणि पवण **बह** खरा।
लग णहि जल, बड़ मरुथल जणजिवणहरा।
दिसइ चलइ हिअअ डुलइ, हम इकलि बहू
घर णहि पिअ सुणहि पहिअ मण **इछल कहूँ**

(२४) णव मंजरि लिज्जिअ चूअह **गाछे**।
परिफुल्लिअ केसु णआवण **आछे**।
जए एत्थिँ दिगंतर जाइहि कंता।
किअ मम्मह **णच्छि**, कि **णच्छि** वसंता।

(२५) जो पुण पर-उअआर[4] विरुज्झइ[5]। तासु जणणि किं ण **यक्कइ** वँज्झइ।

---

(१) मन्मथ। (२) नीप = कदंब। (३) पराधीन। (४) पर उपकार। (५) विरोध करता है।

(२६) आउ वसंत काह, सहि, करिहउँ कंत ण थक्कइ पासे।

व्रज, मारवाड़ी—'किअउ' = कियो। हम्मारो।

खड़ी, पंजाबी—चलिअ, मारिअ, चलिआ, जुज्झिया, बुज्झिया (= चल्या चला, मारया मारा, इत्यादि)। रक्खो, रक्खे, हो, ढोल्ला, पयाणा, सज्जा हूआ (व्रज के समान ढोल्लो, पयाणो, सज्जउ हुयउ नहीं)। तुम्हाण अम्हाण = तुम्हें हमें। तुम्हा (पुराना रूप) = तुम्हारी। हसंती, हरंती (कृदंत रूप हँसती, हरती)।

बैसवाड़ी, अवधी—'करू धरू' = किया, धरा (तुलसी का 'कर धर')। चल = चलती है, ताव = तपाता है, बह = बहता है (उ०—उत्तर दिसि सरजू बह पावनि)। आव = आया। आवे = आए = आवेगा (जैसे, ऊ कब आए?)। पाआ, मिटाआ = पावा, मिटावा = पाया, मिटाया। बड़ = बड़ा। लग = पास, निकट (ठेठ अवधी)। कहिआ = कब (ठेठ पूरबी या अवधी। उ०—कह कबीर किछु अछिलो न जहिया। हरि बिरवा प्रतिपालेसि तहिआ)

भोजपुरी, मैथिली, बँगला—इछल = इच्छा की। पूरल, मुअल = पूरा, मरा। तोहर = तोहरा = तुम्हारा। णच्छि = नहीं है (मैथिलों की छि छिं)। आछे,

थक्कड़ (बँगला)। गाछें = वृक्ष में (बिहारी, मैथिली, बँगला)।

सारांश यह कि अपभ्रंश के नाम से जिस भाषा के पद्य हेमचंद्र के व्याकरण में तथा कुमारपाल प्रतिबोध, प्रबंध चिंतामणि आदि काव्यों में मिलते हैं वह ज्यों की त्यों किसी एक स्थान की बोलचाल की भाषा नहीं है कवि-समय-सिद्ध सामान्य भाषा है। यह भाषा सामान्य दो प्रकार से बनाई गई—

(१) उदारतापूर्वक और और प्रदेशों की बोलियों (अपभ्रंशों) को भी कुछ स्थान देने से।

ऊपर जो उदाहरण दिए गए हैं वे इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं। यदि हम कई स्थानों में प्रचलित शब्दों और रूपों को समेट कर एक भाषा खड़ी करें तो उसमें कृत्रिमता का आभास रहेगा। शब्दों में से कुछ कहीं और कुछ कहीं बोले जाते हों तो भी एक ही प्रदेश में सब के न बोले जाने के कारण सब जगह वह कुछ न कुछ कृत्रिम लगेगी—यहाँ तक कि उस स्थान पर भी जहाँ का उसका ढाँचा होगा। आज भी यदि हम पंजाब, ब्रज, अवध, बिहार इन सब स्थानों की चलती बोलियों को समेट कर ही—बिना किसी पुरानी भाषा का पुट दिए—भाषा का एक हौवा खड़ा करें तो वह प्रगल्भता और प्रचुरता में संस्कृत और अरबी से टक्कर लेने लगे। इस प्रकार एक व्यापक और प्रकांड भाषा तो बन जायगी पर उसमें जीवनी शक्ति उतनी न होगी।

(२) साहित्य की कृत्रिम प्राकृत के पुराने शब्दों को उसी प्रकार स्थान देने से जिस प्रकार पीछे हिंदी-कविता में तत्सम संस्कृत शब्दों को स्थान दिया जाने लगा।

उद्धृत कविताओं में स्वर्ग का 'सग्ग', विद्याधर का 'विज्जाहर', नीप का 'णीव', मन्मथ का 'बम्मह', लोक का 'लोय' प्राकृत की रूढ़ि के अनुसार है। इसी प्रकार प्राकृत से 'पयोहर' (पयोधर), 'महुअर' (मधुकर), रूअ (रूप), कइ (कवि), मिअणअणी (मृगनयनी) आदि शब्द ज्यों के त्यों ले कर रखे जाते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये बोलचाल के शब्द नहीं थे। विना साहित्य की प्राकृत पढ़े न कोई कवि पंडित कहलाता था, न उसकी कविता शिष्ट समझी जाती थी। इसी कारण अपभ्रंश की कविता में भी ऐसे ऐसे वाक्य देखने में आते हैं— रे धणि, मत्त-मअंगज-गामिणि खंजन-लोअणि चंदमुही। इसे उसी प्रकार उस समय की भाषा न समझना चाहिए जिस प्रकार "सुरम्यरूपे, रसराशिरंजिते!" को आजकल की।

इस प्रकार देश की ठीक ठीक बोलचाल की भाषा बराबर दबी सी रही, उभर कर भोजपत्र, तालपत्र, ताम्रपत्र या काग़ज़ पर न आने पाई। कवि लोगों की वाणी सर्वसाधारण की वाणी से भिन्न रही। अपभ्रंश-काल की प्राचीन हिंदी में सबसे अधिक ध्यान देने की बात यह है कि उसमें एक भी संस्कृत शब्द न मिलेगा। साहित्य की कृत्रिम प्राकृत के शब्द पढ़े लिखे लोगों के शब्द समझे जाते रहे और काव्यों में वही

काम देते रहे जो पीछे संस्कृत के शब्द देने लगे। पृथ्वीराज रासो का यदि कुछ अंश भी असली माना जाय तो यह कहा जा सकता है कि उसकी रचना-काल में काव्यभाषा में संस्कृत शब्दों का मिलना प्रारंभ हो चुका था यद्यपि चारणों की परंपरा में प्राकृत-मिली भाषा हम्मीरदेव के समय तक चलती रही और राजपूताने में शायद अब तक थोड़ी बहुत चली चलती है। पर यही कहना चाहिए कि चंद कवि के पीछे प्राकृत के शब्द—जो संस्कृत की अपेक्षा कहीं ज़्यादा नक़ली थे—क्रमशः निकलते गए और धराऊ शब्दों का सजावटी काम संस्कृत शब्द ही देने लगे। प्राकृत का पठन पाठन उठ गया। प्राकृत केवल साहित्य की भाषा थी। उसमें 'गत' का भी 'गय' और 'गज' का भी 'गय', 'मोक्ष' का भी 'मुक्ख' और 'मूर्ख' का भी 'मुक्ख' होने से अर्थबोध में कठिनाई पड़ने लगी। इस प्रकार विचार करने से हिंदी काव्यभाषा के दो बहुत ही स्पष्ट काल दिखाई पड़ते हैं—प्राकृत-काल और संस्कृत-काल; अर्थात् एक वह काल जिसमें भाषा की सजावट के लिए प्राकृत के शब्द लाए जाते थे, दूसरा वह काल जिसमें संस्कृत के शब्द लिए जाने लगे।

संस्कृत-काल

संस्कृत-काल की काव्यभाषा में भी परंपरागत प्राकृत के कुछ पुराने शब्दों को कवि लोग बराबर लाते रहे। भुवाल (भूपाल), सायर (सागर), दीह (दीर्घ), गय (गज),

बसह (वृषभ), नाह (नाथ), ईछन (ईक्षण), लोय (लोक, लोग), लोयन (लोचन) आदि प्राकृत के शब्द सूर, तुलसी, बिहारी आदि के ग्रंथों में इधर उधर मिलते हैं। इसे कहते हैं परंपरा का निर्वाह !

देश की बोलचाल की चलती भाषा से अपना रूप कुछ भिन्न रख कर किस प्रकार काव्य की भाषा अपनी शान बनाए रही और स्वाभाविक भाषा किस प्रकार दबी रही यह पहले कहा जा चुका है। इसी बीच में देश में मुसलमानों का आना हुआ जो ज़रा ज़बान के तेज़ थे। उस समय तक दिल्ली की बोली (खड़ी) साहित्य या काव्य की भाषा नहीं थी। और प्रादेशिक बोलियों के समान वह भी एक कोने में पड़ी थी। पठानों की राजधानी जब दिल्ली हुई तब मुसलमानों को वहाँ की बोली ग्रहण करनी पड़ी। खुसरो ने उस बोली में कुछ पद्य कहे पर परंपरागत काव्यभाषा (व्रजभाषा) की झलक उनमें बराबर बनी रही। दो एक उदाहरण लीजिए—

उ०—(क) अति सुंदर जग चाहै जाको। मैं भी देख भुलानी वाको।
देख रूप माया जो टोना। ए सखि! साजन, ना सखि! सोना।
(ख) टट्टी तोड़ के घर में आया। अरतन बरतन सब सरकाया।
खा गया, पी गया दे गया बुत्ता। ए सखि! साजन, ना सखि कुत्ता।

पहले पद्य में व्रजभाषा का पूरा ढाँचा है; दूसरा पद्य ख़ासी खड़ी बोली में है। खुसरो में व्रजभाषा का यही पुट

देख कर उर्दूभाषा का इतिहास लिखनेवाले उर्दू-लेखकों को यह भ्रम हुआ कि उर्दू अर्थात् खड़ी बोली व्रजभाषा से निकल पड़ी। पर असल में व्रजभाषा का मेल परंपरागत काव्यभाषा के प्रभाव के कारण था। इस बढ़ती हुई ग़ज़लबाज़ी के ज़माने में और ख़ास दिल्ली में अब भी घरेलू गीतों, कहावतों आदि की भाषा कुछ और ही है, उसमें वह खड़ापन या अक्खड़पन नहीं है। ख़ुसरो ही तक बात ख़तम नहीं हुई, उर्दू के पुराने शायर बहुत दिनों तक 'नैन' 'जगत' 'सों' आदि रसपरिपुष्ट शब्द लाते रहे। पीछे के शायरों ने प्रयत्नपूर्वक देश की परंपरागत काव्यभाषा से अपना पीछा छुड़ाया और खड़ी बोली को अनन्य भाव से ग्रहण कर और उसे अरब और फ़ारस की पोशाक पहना कर अपनी साहित्य-भाषा एकबारगी अलग कर ली। कहने का तात्पर्य यह कि पुराने उर्दू-कवियों में व्रज-भाषा का पुट केवल यह बतलाता है कि उर्दू-कविता पहले स्वभावतः देश की काव्यभाषा का सहारा ले कर उठी; फिर जब टांगों में बल आया तब किनारे हो गई, यह नहीं कि खड़ी बोली का अस्तित्व उस समय था ही नहीं और दिल्ली मेरठ आदि में भी व्रजभाषा बोली जाती थी।

प्राकृत के ग्रंथों में अपभ्रंश के जो नमूने मिलते हैं वे ठीक बोलचाल की भाषा में नहीं हैं, कविपरंपरासिद्ध भाषा में हैं इसका निश्चय ख़ुसरो के पद्यों से हो जाता है। रणथंभौर के हम्मीरदेव अलाउद्दीन के समय में थे जिसके यहाँ ख़ुसरो

का रहना इतिहास-प्रसिद्ध है। वि० सं० १३५३ के लगभग अलाउद्दीन गद्दी पर बैठा था। अब हम्मीर के समय में या उनके कुछ पीछे बने हुए पद्यों की भाषा को खुसरो की भाषा से मिला कर देखिए। हो सकता है कि खुसरो की कविता फ़ारसी अक्षरों में लिखी जाने के कारण अपने ठीक रूप में न आ सकी हो, पर कहाँ तक फ़र्क़ पड़ा होगा।

पहली प्राणप्रतिष्ठा

अब बोलचाल की चलती बोलियाँ दबी न रह सकीं। मिथिला में विद्यापति ठाकुर ने अपने प्रदेश की बोलचाल की भाषा को आगे किया और उसमें सरस कविता करके वे मैथिल कोकिल कहलाए। इधर ब्रजभूमि के कवियों की कृपा से काव्यभाषा का ब्रजत्व बढ़ा। जो भाषासाहित्य की भाषा बन कर बोलचाल की भाषा से कुछ अलग अलग बड़ी ठसक से चल रही थी वह ब्रजमंडल की चलती हुई भाषा के प्रवाह में डुबाई गई जिससे उसमें नया जीवन आ गया, वह निखर कर जीती जागती भाषा के मेल में हो गई। पर इस बेर में भी काव्यभाषा के परंपरागत पुराने रूप कुछ न कुछ साथ लगे रहे, या यों कहिए कि जान बूझ कर रख लिए गए। 'जासु' 'तासु', 'नाह', 'ईछन', 'दीह', 'लोयन', आदि बहुत से पुराने पड़े हुए, बोलचाल से उठे हुए या अप्रचलित प्राकृत साहित्य से आए हुए शब्द तथा शब्दों के कालवाचक और कारकसूचक रूप (जैसे, शोभिजै, कहियत, आवहिँ, करहिं, रामहिँ) परंपरा

रक्षित रखने के लिए बराबर लाए जाते रहे। ये चलती हुई ब्रजभाषा के शब्द और रूप नहीं हैं, उस कविसम्मत भाषा के शब्द और रूप हैं जिसकी परंपरा बहुत पुरानी है। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि अवधी बोली (जो पूरबी है) के कवियों ने भी इनका प्रयोग किया है। अवधी की कविता में 'जासु' 'तासु' बराबर मिलेंगे पर 'जाको' 'ताको' आदि चलती हुई ब्रजभाषा के रूप नहीं पाए जायँगे; इनके स्थान पर उसमें 'जाकर' 'ताकर' या 'जेकर' 'तेकर' मिलेंगे।

इधर काव्यभाषा ने ब्रज का चलता रूप पूरा पूरा धारण किया उधर साहित्य की ओर अवधप्रदेश की भाषा भी अग्रसर हुई। पहले तो इसे लेकर वे लोग ही चले जिनका शिष्ट साहित्य से विशेष संपर्क न था। कबीरदास ने यद्यपि पँचरंगी मिलीजुली भाषा का व्यवहार किया है जिसमें ब्रजभाषा क्या उस खड़ी बोली या पंजाबी तक का पूरा पूरा मेल है जो पंथवालों की सधुक्कड़ी भाषा* हुई पर पूरबी भाषा की झलक उसमें अधिक है। 'जहिया', 'तहिया', 'आउब', 'जाब' आदि पूरबी प्रयोग भरे पड़े हैं। धीरे धीरे अवध में जब मुसलमानों की ख़ासी बस्ती हो गई तब वहाँ की भाषा ने उन्हें आकर्षित

---

* खड़ी बोली मुसलमानों की भाषा हो चुकी थी। मुसलमान भी साधुओं की प्रतिष्ठा करते थे, चाहे वे किसी दीन के हों। इससे खड़ी बोली दोनों धर्मों के अनपढ़े लोगों को साथ लगानेवाले और किसी एक के भी शास्त्रीय पक्ष से संबंध न रखनेवाले साधुओं के बड़े काम की हुई। जैसे इधर अँगरेज़ों के काम की 'हिंदुस्तानी' हुई।

किया। सहसराम के शासक हुसैनशाह के आश्रित कुतबन ने अवधी बोली मेँ मृगावती लिखी। हुसैनशाह के पुत्र शेरशाह के ज़माने मेँ मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पद्मावत' लिख कर हिंदुओं के घरेलू भावों का जो माधुर्य दिखाया उससे अवधी भाषा की शक्ति का परिचय मिल गया। सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों ने जिस प्रकार अपने उपास्य देव की जन्म-भूमि की भाषा प्रेमपूर्वक ली उसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने अपने उपास्य की जन्मभूमि अयोध्या की भाषा में अपना रामचरित-मानस लिखा। ऐसे महाकवि के हाथ में पड़ कर अवधी भाषा पूर्व से पश्चिम तक ऐसी गूँजी कि काव्य की सामान्य भाषा ने अष्टछाप के कवियों द्वारा व्रज का जो चलता विशुद्ध रूप पाया था उसमें बाधा पड़ने का सामान हुआ। रहीम ने अवधी भाषा की ओर विशेष रुचि दिखाई। 'बरवै नायिका-भेद' तो उन्होंने अवधी भाषा में लिखा ही, अपने नीति के चुटीले दोहों में भी अवधी के भोलेपन का पूरा सहारा लिया। धीरे धीरे व्रजभाषा की विशुद्धता की ओर बहुत से कवियों का ध्यान नहीं रहा और वे व्रजभाषा की कविता में भी अवधी के शब्दों और रूपों का मनमाना व्यवहार करने लगे। अल्प शक्तिवाले कवियों को इसमें सुबीता भी बहुत दिखाई दिया—एक ही अर्थ सूचित करने के लिए शब्दों की एक ख़ासी भीड़ उन्हें मिल गई। कीनो, कियो, कर्यो, कर, किय, कीन; आवैं, आवहिं (मौक़ा पड़ने पर 'आवहीं' भी), आवत; थोरो, थोर; मेरो,

मोर; तेरो, तोर—जो छंद में बैठा रख दिया। प्राकृत आदि के पुराने शब्द बने ही थे। इस प्रकार काव्यभाषा के फिर एक सामान्य और किंचित् कृत्रिम रूप प्राप्त करने की आशंका हुई।

इसमें अवध और बुंदेलखंड के कवियों ने विशेष योग दिया। कृत्रिम प्राकृत का षट्भाषा—वाला लक्षण (संस्कृतं प्राकृतं चैव शूरसेनी तदुद्भवा। ततोऽपि मागधी प्राग्वत् पैशाची देशजापि च।) नए रूप में फिर से ताज़ा किया गया। 'दास' जी ने 'काव्यनिर्णय' में भाषानिर्णय भी कर डाला—

ब्रजभाषा भाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोय।
मिलै संस्कृत पारस्यौ पै अति प्रगट जु होय॥
ब्रज मागधी मिलै अमर नाग यवन भाखानि।
सहज पारसी हू मिलै षड विधि कहत बखानि॥

सुनते हैं आजकल विहारवाले भी 'भाषानिर्णय' के उद्योग में हैं और क्रियापदों से लिंगभेद का झंझट उठवाना चाहते हैं। 'हिंदी-रचनाप्रणाली' पर पुस्तकें भी विहार ही में अधिक छपती हैं। एक दिन एक पुस्तक मैंने उठाई। आरंभ में ही लक्षणा के उदाहरण में मिला "तुम गधा हो"। मैंने 'आकाशे लक्ष्यं बध्वा' वाक्य को ठीक तौर से दुहरा कर पुस्तक रख दी। दास जी ने "ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानो" कह कर मिलीजुली भाषा के लिए प्रमाण ढूँढ़ा कि—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन में मिली भाषा विविध प्रकार॥

इस प्रकार भाषा की दृष्टि से उर्दू की तरह हिंदी में भी दो ठाट हो गए—एक विशुद्ध भाषा का व्रजस्कूल, दूसरा मिली जुली भाषा का अवध-स्कूल।

अपभ्रंश या प्राकृत-काल की काव्यभाषा के उदाहरणों में आजकल की भिन्न भिन्न बोलियों के मुख्य मुख्य रूपों के बीज या अंकुर दिखा दिए गए हैं। इनमें से व्रज और अवधी के भेदों पर कुछ विचार करना आवश्यक है क्योंकि हिंदीकाव्य में इन्हीं दोनों का व्यवहार हुआ है। इन दोनों भाषाओं की सीमा कानपुर के पच्छिम मैनपुरी और इटावे के आस पास ठहरती है। पच्छिमी भाषाओं में जिस प्रकार व्रज सब से पूरबी है उसी प्रकार पूरबी भाषाओं में अवधी सबसे पच्छिम की है। कुछ बातों में व्रजभाषा अपने से उत्तर की खड़ी बोली के साथ मेल खाती है और कुछ बातों में अवधी के साथ।

खड़ी बोली के साथ मेल और अवधी से भेद

खड़ी बोली के समान सकर्मक भूतकाल के कर्त्ता में व्रजभाषा में भी 'ने' चिह्न होता है चाहे काव्य में सूरदास आदि की परंपरा के विचार से उसके नियम का पालन पूर्ण रूप से न किया जाय। यह 'ने' वास्तव में करण का चिह्न है जो हिंदी में गृहीत कर्मवाच्य रूप के कारण आया है। हेमचंद्र के इस दोहे से इस बात का पता लग सकता है—जे महु दिण्णा दिअहड़ा दइएँ पवसंतेण = जो मुझे दिए गए दिन प्रवास जाते हुए दयित (पति) से। इसीके अनुसार सक० भूत० क्रिया

का लिंग वचन भी कर्म के अनुसार होता है। पर और पूरबी भाषाओं के समान अवधी में भी यह 'ने' नहीं है। अवधी के सकर्मक भूतकाल में जहाँ कृदंत से निकले हुए रूप लिए भी गए हैं वहाँ भी न तो कर्त्ता में करण का स्मारक रूप 'ने' आता है और न कर्म के अनुसार क्रिया का लिंग वचन बदलता है। वचन के संबंध में तो यह बात है कि कारकचिह्नग्राही रूप के अतिरिक्त संज्ञा में बहुवचन का भिन्न रूप अवधी आदि पूरबी बोलियों में होता ही नहीं; जैसे, 'घोड़ा' और 'सखी' का ब्रजभाषा में बहुवचन 'घोड़े' और 'सखियाँ' होगा पर अवधी में एकवचन का सा ही रूप रहेगा; केवल कारकचिह्न लगने पर 'घोड़न' और 'सखिन' हो जायगा। इस पर एक कहानी है। पूरब के एक शायर ज़बाँदानी के पूरे दावे के साथ दिल्ली जा पहुँचे। वहाँ किसी कुँजड़िन की टोकरी से एक मूली उठा कर पूछने लगे "मूली कैसे दोगी?" वह बोली "एक मूली का क्या दाम बताऊँ?" इन्होंने कहा "एक ही नहीं और लूँगा।" कुँजड़िन बोली "तो फिर मूलियाँ कहिए।"

अवधी में भविष्यत् की क्रिया केवल तिङन्त ही है जिसमें लिंगभेद नहीं है पर ब्रज में खड़ी बोली के समान 'गा' वाला कृदंत रूप भी है जैसे, आवैगो, जायगी इत्यादि।

खड़ी बोली के समान ब्रज की भी दीर्घांत पदों की ओर (क्रियापदों को छोड़) प्रवृत्ति है। खड़ी बोली की आकारांत पुं० संज्ञाएँ, विशेषण और संबंधकारक के सर्वनाम ब्रज में

ओकारांत होते हैं—जैसे, घोड़ो, फेरो, झगड़ो, ऐसो, जैसो, वैसो, कैसो, छोटो, बड़ो, खोटो, खरो, भलो, नीको, थोरो, गहरो, दूनो, चौगुनो, साँवरो, गोरो, प्यारो, ऊँचो, नीचो, आपनो, मेरो, तेरो, हमारो, तुम्हारो इत्यादि। इसी प्रकार आकारांत साधारण क्रियाएँ और भूतकालिक कृदंत भी ओकारांत होते हैं, जैसे, आवनो, आयबो, करनो, देनो, दैबो, दीबो, ठाढ़ो, बैठो, उठो, आयो, गयो, चल्यो, खायो इत्यादि। पर अवधी का कुछ लघ्वंत पदों की ओर झुकाव है जिससे लिंगभेद का भी कुछ निराकरण हो जाता है। लिंगभेद से अरुचि अवधी ही से कुछ कुछ आरंभ हो जाती है। अस, जस, तस, कस, छोट, बड़, खोट, खर, भल, नीक, थोर, गहिर, दून, चौगुन, साँवर, गोर, पियार, ऊँच, नीच इत्यादि विशेषण; आपन, मोर, तोर, हमार तुम्हार सर्वनाम और केर, कर, सन तथा पुरानी भाषा के कहँ, महँ, पहँ कारक के चिह्न इस प्रवृत्ति के उदाहरण हैं। साधारण क्रिया के रूप भी अवधी में लघ्वंत ही होते हैं जैसे, आउब, जाब, करब, हँसब इत्यादि। यद्यपि खड़ी बोली के समान अवधी में भूतकालिक कृदंत आकारांत होते हैं पर कुछ अकर्मक कृदंत विकल्प से लघ्वंत भी होते हैं, जैसे, ठाढ़, बैठ, आय, गय; उ०—बैठ हैं = बैठे हैं।

(क) बैठ महाजन सिंहलदीपी। —जायसी

(ख) पाट बैठि रह किए सिंगारू। —जायसी

इसी प्रकार कविता में कभी कभी वर्त्तमान की अगाड़ी खोल कर धातु का नंगा रूप भी रख दिया जाता है—

(क) सुनत वचन **कह** पवन कुमारा। —तुलसी

(ख) उत्तर दिसि सरजू **वह** पावनि। —तुलसी

उच्चारण—दो से अधिक वर्णों के शब्द के आदि में 'इ' के उपरांत 'आ' के उच्चारण से कुछ द्वेष व्रज और खड़ी दोनों पछाहीं बोलियों को है। इससे अवधी में जहाँ ऐसा योग पड़ता है वहाँ व्रज में संधि हो जाती है। जैसे, अवधी के सियार, कियारी, बियारी, बियाज, बियाह, पियार (कामिहिं नारि पियारि जिमि—तुलसी), नियाव, इत्यादि व्रजभाषा में स्यार, क्यारी, ब्यारी, ब्याज, ब्याह, प्यारो, न्याव इत्यादि बोले जायँगे। 'उ' के उपरांत भी 'आ' का उच्चारण व्रज को प्रिय नहीं है; जैसे, पूरबी—दुआर, कुवाँर,। व्रज—द्वार, क्वारा। इ और उ के स्थान पर य और व की इसी प्रवृत्ति के अनुसार अवधी इहाँ उहाँ (१. इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा। २. उहाँ दसानन सचिव हँकारे। —तुलसी) के व्रजरूप 'यहाँ' 'वहाँ' और 'हियाँ' 'हुवाँ' के 'ह्याँ' 'ह्वाँ' होते हैं। ऐसे ही 'अ' और 'आ' के उपरांत भी 'इ' नापसंद है, 'य' पसंद है—जैसे, अवधी के पूर्वकालिक आइ, जाइ, पाइ, कराइ, दिखाइ इत्यादि और भविष्यत् आइहै, जाइहै, पाइहै, कराइहै, दिखाइहै (अथवा अइहै, जइहै, पइहै, करइहै, दिखइहै) आदि न कह कर व्रज में क्रमशः आय, जाय, पाय, दिखाय तथा आयहै,

जायहै, पायहै, करायहै, दिखायहै (अथवा अयहै = ऐहै, जयहै = जैहै आदि) कहेंगे। इसी रुचिवैचित्र्य के कारण 'ऐ' और 'औ' का संस्कृत उच्चारण (अइ, अउ के समान) पच्छिमी हिंदी (खड़ी और ब्रज) से जाता रहा, केवल 'य'कार 'व' कार के पहले रह गया जहाँ दूसरे 'य' 'व' की गुंजाइश नहीं— जैसे, गैया, कन्हैया, भैया, कौवा, हौवा इत्यादि में। 'और' 'ऐसा', 'भैंस' आदि का उच्चारण पच्छिमी हिंदी में 'अवर', 'अयसा', 'भयँस' से मिलता जुलता और पूरबी हिंदी में 'अउर', 'अइसा', 'भइँस' से मिलता जुलता होगा।

ब्रज के उच्चारण के ढंग में कुछ और भी अपनी विशेषताएँ हैं। कर्म के चिह्न 'को' का उच्चारण 'कौं' से मिलता जुलता करते हैं। 'माहिँ, नाहिँ, याहि, वाहि' आदि के अंत का 'ह' उच्चारण में घिस सा गया है इससे इनका उच्चारण 'मायँ', 'नायँ', 'याय', 'वाय' के ऐसा होता है। 'आवैंगे', 'जावैंगे' का उच्चारण सुनने में 'आमैंगे' 'जामैंगे' सा लगता है। पर मेरी समझ में लिखने में इनका अनुसरण करना ठीक नहीं होगा।

अवधी के साथ मेल और खड़ी बोली से भेद

खड़ी बोली में काल बतानेवाले क्रियापद ('है' को छोड़) भूत और वर्त्तमान कालवाची धातुज कृदंत अर्थात् विशेषण ही हैं इसीसे उनमें लिंगभेद रहता है—जैसे, आता है = आता हुआ है = सं० आयान् (आयान्त)। उपजता है = उपजता

हुआ है=प्राकृत 'उपजंत'=सं० उत्पद्यन्त, उत्पद्यन्। करता है=करता हुआ है=प्रा० करंत=सं० कुर्वन्त, कुर्वन्। आती है=आती हुई है=प्रा० आयंती=सं० आयान्ती। उपजती है=उपजती हुई है=प्रा० उपजंती=सं० उत्पद्यन्ती। करती है=करती हुई है=प्रा० करंती=सं० कुर्वन्ती। इसी प्रकार वह गया=स गतः, उसने किया=तेन कृतम् इत्यादि। पर व्रजभाषा और अवधी में वर्त्तमान और भविष्यत् के तिङन्त रूप भी हैं जिनमें लिंगभेद नहीं है। व्रज के वर्त्तमान में यह विशेषता है कि बोलचाल की भाषा में तिङन्त प्रथम पुरुष क्रियापद के आगे पुरुषविधान के लिए 'है' 'हूँ और 'हौ' जोड़ दिए जाते हैं। जैसे, सं० चलति=प्रा० चलइ=व्रज० चलै। उत्पद्यते=प्रा० उपज्जइ=व्रज० उपजै। सं० पठन्ति =प्रा० पढंति, अप० पढइं=व्रज० पढ़ैं। उत्तम पुरुष, सं० पठामः=प्रा० पठामो; अप० पढउँ=व्रज पढौं या पढ़ूँ। अब व्रज में ये क्रियाएं 'होना' के रूप लगा कर बोली जाती हैं,—जैसे, चलै है, उपजै है, पढैं हैं, पढौं हौं या पढ़ूँ हूँ। इसी प्रकार मध्यम पुरुष "पढ़ौ हौ" होगा। वर्त्तमान के तिङन्त रूप अवधी की बोलचाल से अब उठ गए हैं पर कविता में बराबर आए हैं उ०—(क) पंगु चढ़ै गिरिवर गहन, (ख) बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। भविष्यत् के तिङन्त रूप अवधी और व्रज दोनो में एक ही हैं—जैसे, करिहै, चलिहै, होयहै=अप० करिहइ, चलिहइ, होइहइ=प्रा० करिस्सइ,

चलिस्सइ, होइस्सइ = सं० करिष्यति, चलिष्यति, भविष्यति। अवधी में उच्चारण अपभ्रंश के अनुसार ही है पर ब्रज में 'इ' के स्थान पर 'य' वाली प्रवृत्ति के अनुसार करिहय = करिहै, होयहय = होयहै इत्यादि रूप हो जायँगे। 'य' के पूर्व के 'आ' को लघु करके दोहरे रूप भी होते हैं—जैसे, अयहै = ऐहै, जयहै = जैहै, करयहै = करैहै इत्यादि। उत्तम पुरुष—खयहौँ = खैहौँ, अयहौँ = ऐहौँ, जयहौँ = जैहौँ।

ब्रजभाषा में बहुवचन के कारकचिह्नग्राही रूप में खड़ी बोली के समान 'ओं' (जैसे लड़कों को) नहीं होता, अवधी के समान 'न' होता है—जैसे, घोड़ान को, घोड़न को; छोरान को, छोरन को इत्यादि। अवधी में केवल दूसरा रूप होता है, पहला नहीं उ०—देखहु बनरन केरि ढिठाई।—तुलसी।

खड़ी बोली में कारक के चिह्न विभक्ति से पृथक् हैं। विलायती मत कह कर हम इसका तिरस्कार नहीं कर सकते। इसका स्पष्ट प्रमाण खड़ी बोली के संबंधकारक के सर्वनाम में मिलता है—जैसे, किसका = सं० कस्य = प्रा० नपुं० किस्स + कारक चिह्न 'का'। काव्यों की पुरानी हिंदी में संबंध की 'हि' विभक्ति (माग० 'ह', अप० 'हो') सब कारकों का काम दे जाती है। अवधी में अब भी सर्वनाम में कारकचिह्न लगने के पहले यह 'हि' आता है जैसे 'केहिकाँ' (पुराना रूप केहि कहँ), 'केहि कर' यद्यपि बोलचाल में अब यह 'हि' निकलता जा रहा है। ब्रजभाषा से इस 'हि' को उड़े बहुत दिन

हो गए, उसमें 'काहि को' 'जाहि को' आदि के स्थान पर 'काको' 'जाको' आदि का प्रयोग बहुत दिनों से है। यह उस भाषा के अधिक चलतेपन का प्रमाण है। खड़ी बोली में सर्व-नामों (जैसे, मुझे, तुझे, हमें, मेरा, तुम्हारा, हमारा) को छोड़ विभक्ति से मिले हुए सिद्ध रूप व्यक्त नहीं है, पर अवधी और ब्रजभाषा में हैं—जैसे पुराना रूप 'रामहिं', 'बनहिं' घरहिं नए रूप 'रामैं' 'बनै' घरै (अर्थात् रामको, बनको, घरको); अवधी या पूरबी "घरे" = घर में।

जैसा पहले कहा जा चुका है ब्रज की चलती बोली से पदांत के 'ह' को निकले बहुत दिन हुए। ब्रजभाषा की कविता में 'रामहिं', 'आवहिं' 'जाहिं' 'करहिँ' 'करहु' आदि जो रूप देखे जाते हैं वे पुरानी परंपरा के अनुसरण मात्र हैं। खड़ी बोली के समान कुछ सर्वनामों में)जाहि, वाहि, तिन्हैं, जिन्हैं,) यह 'ह' रह गया है। चलती भाषा में 'रामै', 'बनै', 'आवैँ' 'जायँ,' करैँ', 'करौ' ही बहुत दिनों से—जब से प्राकृत-काल का अंत हुआ तब से—हैं। सूरदास में ये ही रूप बहुत मिलते हैं। कविता में नए पुराने दोनों रूपों का साथ साथ पाया जाना केवल परंपरा का निर्वाह ही नहीं कवियों का आलस्य और भाषा की उतनी परवा न करना भी सूचित करता है। 'आवैँ', 'चलावैँ' के स्थान पर 'आवहिँ', 'चलावहिँ' क्या 'आवहीं', 'चलावहीं' तक लिखे जाने से भाषा की सफ़ाई जाती रही। शब्दों का अंगभंग करने का

'कविंदां' ने ठेका सा ले लिया। समस्यापूर्ति की आदत के कारण कवित्त के अंतिम चरण की भाषा ते ठिकाने की होती थी, शेष चरण इस बात को भूल कर पूरे किए जाते थे कि शब्दों के कुछ नियत रूप और वाक्यों के कुछ निर्दिष्ट नियम भी होते हैं। पर भाषा के जीते जागते रूप को पहचाननेवाले रसखान और घनानंद ऐसे कवियों ने ऐसे सड़े गले या विकृत रूपों का प्रयोग नहीं किया है—किया भी है तो बहुत कम। 'आवहिं', 'जाहिं', 'करहि', 'करहु' न लिख कर उन्होंने बराबर 'आवैं', 'जायँ' 'करै', 'करौ' लिखा है। इसी प्रकार 'इमि', जिमि', 'तिमि' के स्थान पर वे बराबर चलती भाषा के 'यों', 'ज्यों', 'त्यों', लाए हैं। व्रज की चलती भाषा में केवल सर्वनामों के कर्म में 'ह' कुछ रह गया है, जैसे, जाहि, ताहि, वाहि, जिन्हैं, तिन्हैं। पर 'जाहि' 'वाहि' के उच्चारण में 'ह' घिसा जा रहा है, लोग 'जाय' 'वाय' के समान उच्चारण करते हैं।

हिंदी की तीनों बोलियों में (खड़ी, व्रज और अवधी) व्यक्तिवाचक सर्वनाम कारकचिह्न के पहले अपना कुछ रूप बदलते हैं। व्रजभाषा में विकार अवधी का सा होता है, खड़ी बोली का सा नहीं।

खड़ी	**अवधी**	**व्रज**
मैं,—तू—वह।	मैं—तैं—वह, सो, ऊ।	मैं—तू या तैं—वह, सो।
मुझ—तुझ—उस।	मो—तो—वा, ता, ओ।	मो—तो—वा, ता।

'ने' चिह्न तो अवधी में आता ही नहीं। व्रज में उत्तम पुरुष कर्त्ता का रूप 'ने' लगने पर 'मैं' ही रहता है। ऊपर अवधी में प्रथम पुरुष का तीसरा रूप पूरबी अवधी का है। व्रज में एक वचन उत्तम पुरुष 'हौं' भी आता है जिसमें कोई कारक-चिह्न नहीं लग सकता। वास्तव में इसका प्रयोग कर्ताकारक में होता है पर केशव ने कर्म में भी किया है, यथा—पुत्र हौं विधवा करी तुम कर्म कीन्ह दुरंत।

'जाना' 'होना' के भूतकाल के रूप (गवा, भवा) में से 'व' उड़ा कर जैसे अवधी में 'गा' 'भा' रूप होते हैं वैसे ही व्रज में भी 'य' उड़ा कर 'गो' 'भो' (बहु० गे, भे) रूप होते हैं। उ०—(क) इत पारि **गो** को, मैया! मेरी सेज पै कन्हैया को?—पद्माकर। (ख) सौतिन के साल **भो**, निहाल नंदलाल **भो**।—मतिराम।

खड़ी बोली करण का चिह्न 'से' क्रिया के साधारण रूप में लगाती है; व्रज और अवधी प्रायः भूतकालिक कृदंत में ही लगाती हैं, जैसे, व्रज० 'किए तें', अवधी 'किए सन'=करने से। कारकचिह्न प्रायः उड़ा भी दिया जाता है, केवल उसका सूचक विकार क्रिया के रूप में रह जाता है, जैसे, किए, दीने।

क्रिया का वर्त्तमान कृदंत रूप व्रजभाषा खड़ी के समान दीर्घांत भी रखती है, जैसे, आवतो, जातो, भावतो, सुहातो (उ०—जब चहिहैं तब माँगि पठैहैं जो कोउ आवत जातो।—

सूर) और अवधी के समान लघ्वंत भी, जैसे, आवत, जात, आवत, सुहात। कविता में सुबीते के लिए लघ्वंत का ही ग्रहण अधिक है। जिन्हें व्रज और अवधी के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता वे 'जात' को भी 'जावत' लिख जाते हैं।

खड़ी बोली में साधारण क्रिया का केवल एक ही रूप 'ना' से अंत होनेवाला (जैसे, आना, जाना, करना) होता है पर व्रजभाषा में तीन रूप होते हैं—एक तो 'नो' से अंत होनेवाला, जैसे, आवनो, करनो, लेनो, देनो; दूसरा 'न' से अंत होनेवाला, जैसे, आवन, जान, लेन, देन; तीसरा 'बो' से अंत होनेवाला जैसे, आयबो, करिबो, दैबो या लैबो इत्यादि। करना, देना और लेना के 'कीबो' 'दीबो' और 'लीबो' रूप भी होते हैं। व्रज के तीनों रूपों में से कारक के चिह्न पहले रूप (आवनो, जानो) में नहीं लगते पिछले दो रूपों में ही लगते हैं—जैसे, आवन को, जान को, दैबे को इत्यादि। शुद्ध अवधी में कारक चिह्न लगने पर साधारण क्रिया का रूप वर्त्तमान तिङन्त का हो जाता है, जैसे, आवइ के, जाइ के, आवइ में, जाइ में अथवा आवइ कौं, जाइ कौं, आवइ माँ, जाइ माँ। उ०—जात पवनसुत देवन देखा। जानइ कहँ बल बुद्धि बिसेखा। सुरसा नाम अहिन कै माता। पठइन्ह आइ कही तेइ बाता।—तुलसी।

पूरबी या शुद्ध अवधी में साधारण क्रिया के अंत में 'ब' रहता है जैसे आउब, जाब, करब, हँसब इत्यादि। इस 'ब'

की असली जगह पूरबी भाषाएँ ही हैं जो इसका व्यवहार भविष्यत् काल में भी करती हैं, जैसे –पुनि आउब यहि बेरियाँ काली ।—तुलसी । उत्तम पुरुष (हम करब, मैं करबौं) और मध्यम पुरुष (तूँ करबौ, तैं करबे) में तो यह बराबर बोला जाता है पर साहित्य में प्रथम पुरुष में भी बराबर इसका प्रयोग मिलता है यथा—(क) तिन निज ओर न लाउब भोरा ।—तुलसी । (ख) घर पइठत पूछब यहि हारू । कौन उतरु पाउब पैसारू—जायसी । पर ऐसा प्रयोग सुनने में नहीं आया। मध्यम पुरुष में विशेष कर आज्ञा और विधि में 'ब' में 'ई' मिला कर व्रज के दक्षिण से लेकर बुँदेलखंड तक बोलते हैं, जैसे, आयबी, करबी, इत्यादि । उ०—(क) यह राज साज समेत सेवक जानिबी बिनु गथ लये । (ख) ए दारिका परिचारिका करि पालिबी करुनामई ।—तुलसी । यह प्रयोग व्रजभाषा के ही अंतर्गत है और साहित्य में प्रायः सब प्रदेशों के कवियों ने इसे किया है—सूर, बोधा, मतिराम, दास यहाँ तक कि रामसहाय ने भी । जैसा ऊपर कहा जा चुका है जब साहित्य की एक व्यापक और सामान्य भाषा बन जाती है तब उसमें कई प्रदेशों के प्रयोग आ मिलते हैं । साहित्य की भाषा को जो व्यापकत्व प्राप्त होता है वह इसी उदारता के बल से । इसी प्रकार 'स्यो' (= सह, साथ०) शब्द बुँदेलखंड का समझा जाता है जिसका प्रयोग केशवदास जी ने, जो बुँदेलखंड के थे, किया है, यथा—"अलि स्यो सरसीरुह राजत है"। बिहारी ने तो इसका

प्रयोग किया ही है। पर उन्होंने जैसे 'करिबी' और 'स्यो' का प्रयोग किया है वैसे ही अवधी 'कीन' 'दीन' 'केहिं' (= किसने) का प्रयोग भी तो किया है। 'स्यो' का प्रयोग दास जी ने भी किया है जो ख़ास अवध के थे, यथा—स्यो ध्वनि अर्थनि वाक्यनि लै गुण शब्द अलंकृत सों रति पाकी। अतः किसी के काव्य में स्थान विशेष के कुछ शब्दों को पाकर चटपट यह निश्चय न कर लेना चाहिए कि वह उस स्थान ही का रहनेवाला था। सूरदास ने पंजाबी और पूरबी शब्दों का व्यवहार किया है। अब उन्हें पंजाबी कहें या पुरबिया? उदाहरण लीजिए—"जोग-मोट सिर बोझ आनि कै कत तुम घोष उतारी। एतिक दूर जाहु चलि काशी जहाँ बिकति है **प्यारी**"। 'महँगा' के अर्थ में 'प्यारा' पंजाबी है। अब पूरबी के नमूने लीजिए—(क) नेक गोपालै मोको दै री। देखौं कमलवदन नीके करि ता पाछे तू **कनिया** लै री। (ख) **गोड़** चापि लै जीभ मरोरी। 'कनियां' (गोद) और 'गोड़' (पैर) ख़ास पूरबी हैं। डर है कि कहीं हिंदीवालों में भी लोग अपने गाँव के पास पुराने प्रसिद्ध कवियों की मूर्तियाँ खोद खोद कर न निकालने लगें।

व्रजभाषा की कुछ विशेषताएँ

खड़ी बोली की आकारांत पुं० संज्ञाओं, विशेषणों, और भूत कृदंतों का (विकल्प से वर्त्तमान कृदंतों का भी) ओकारांत होना व्रजभाषा का सब से प्रत्यक्ष लक्षण है। यह संस्कृत के

पुं० कर्त्ताकारक के स् (=सु) का विकार है जो शौरसेनी से आकर ब्रज के कर्त्ता और कर्म में देखा जाता है। संस्कृत में आकारांत पुं० शब्द तो इने गिने हैं। हिंदी में जो शब्द आकारांत हैं वे अधिकतर संस्कृत में अकारांत थे, जैसे घोड़ा, पासा सं० घोटक, पाशक। कर्त्ता का रूप घोटकः=प्रा० (घोड़ अ+उ) घोड़ओ; पाशकः=प्रा० (पासअ+उ) पास ओ=ब्रज० घोड़ो, पासो। इसी प्रकार भूत और वर्त्तमान कृदंत शब्दों के अंतिम 'त' का 'अ' हुआ और फिर उसमें 'उ' जुड़ कर 'ओ' हो गया। जैसे, चलितः=चलिअ+उ=चलिअउ =चल्यो। कृतः=किअ+उ=किअउ=कियो। गतः=गअ या गय +उ=गयउ=गयो। कहने की आवश्यकता नहीं कि जिसे भूत-कृदंत-मूलक सकर्मक क्रियाओं का कर्म कहते हैं वह भी वास्तव में कर्त्ता ही है अतः उसका भी ओकारांत होना ठीक ही है। भाषा के इतिहास की दृष्टि से (चलते व्याकरण की दृष्टि से नहीं) ऐसी क्रियाओं के कर्म में 'को' चिह्न लगाना ठीक नहीं है। स्वर्गीय बाबू बालमुकुंद गुप्त को यह 'को' नापसंद था।

इस 'ओ' के नियम का अपवाद भी है। जैसे संस्कृत में स्वार्थे 'क' आता है वैसे ही हिंदी में 'डा', 'रा', 'आ', 'ना', 'वा', आदि आते हैं। जैसे, खड़ी—मुखड़ा, बछड़ा; ब्रज और अवधी—हियरा, जियरा, अधरा, बदरा, अँचरा, अँसुवा, बटा, (बाट), हरा (हार), लला (लाल), भैया (भाई+आ),

कन्हैया (कन्हाई + आ); पूरबी या अवधी—करेजवा, बदरवा*, सुगना, बिधना। ऐसे शब्द न तो ओकारांत होते हैं और न कारकचिह्न लगने के पहले उनका रूप एकारांत होता है।

उ०—(क) क्यों हँसि हेरि हर्‍यो **हियरा** अरु क्यों हित कै चित चाह बढ़ाई ?—घनानंद

(ख) वहै हँसि दैन **हियरा** तें न टरत है।—घनानंद

(ग) जान मेरे **जियरा** बनी को कैसो मोल है।—घनानंद

(घ) **बदरा** बरसैं ऋतु में घिरि कै, नित ही अँखियाँ उघरी बरसैं।—घनानंद।

(च) बारि फुहार भरे **बदरा** सोइ सोहत कुंजर से मतवारे।
—श्रीधर पाठक।

(छ) हे विधना ! तो सों **अँचरा** पसारि माँगौं जनम जनम दीजो याही व्रज बसिबो।—छीत स्वामी।

(ज) जैहै जो भूषन काहू तिया को तो मोल **छला** के **लला** न बिकैहो।—रसखान।

(झ) कुच दुंदन को पहिराय **हरा** मुख सोंधी सुरा महकावति हैं।—श्रीधर पाठक।

(ट) बूझिहैं **चवैया** तब कैहौं कहा, दैया ! इत पारि गो को, मैया ! मेरी सेज पै **कन्हैया** को।—पदमाकर।

कारक के कुछ चिह्न भी व्रजभाषा के निजके हैं—

* ऐसे शब्दों की बहार रहीम के "बरवै नायिकाभेद" में देखिए जो अवधी या पूरबी भाषा में है।

कर्ता—(१)...(२) ने

कर्म—को (कौं)

करण—सौं ; तैं

संप्रदान—को (कौं)

अपादान—तें

संबंध—को

अधिकरण—में; मां, पै ('पर' भी)।

'यह', 'वह', 'सो', 'को', या 'कौन', और 'जो' इन सर्वनामों के रूप कारकचिह्न लगने के पहले क्रमशः 'या', 'वा', 'ता,' 'का' और 'जा' (जैसे, याने, वाको, तासों, काको, जाको,) होते हैं, अवधी के समान 'यहि, वहि, तेहि, केहि, जेहि' नहीं। अतः 'यहि को' 'यहि विधि' आदि रूप शुद्ध व्रज नहीं हैं।

खड़ी बोली में कीजिए, दीजिए, करिए, धरिए आदि रूप आज्ञा और विधि के हैं। 'इज्ज' और 'इज्जा' प्राकृत में भी मिलते हैं—जैसे, अप० पढ़िज्जहि पढ़ीयहि = हिं० पढ़ीजै, पढ़िए। व्रजभाषा में आज्ञा और विधि के अतिरिक्त वर्त्तमान और भविष्यत् में भी चाहे कोई पुरुष हो इनका प्रयोग मिलता है। यह स्वच्छंदता प्राकृत में भी थी। हेमचंद्र ने (३—१७८) 'हो' धातु तथा और धातुओं में भी सब कालों के लिए इन रूपों का प्रयोग लिखा है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

(क) पुंज कुंजर शुभ्र स्यंदन **शोभिजै** सुठि सूर।—केशव

(ख) रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस बिसास में यौं

विष **घोरिये** जू।—घनानंद।

(ग) जो कछु है सुख संपति सौंज सो नैसुक ही हँसि देन में **पैये**।—घनानंद।

'ए' निकाल कर और वर्त्तमान का चिह्न 'त' लगाकर भी इसका प्रयोग हुआ है—

"कहा चतुराई **ठानियत** प्राणप्यारी, तेरो मान **जानियत** रूखे मुँह मुसकान सों।"—मतिराम।

उत्तम पुरुष के साथ संभाव्य भविष्यत् काल का उदाहरण—

(क) ज्ञान निराश कहा लै **कीजै**?—सूर।

(ख) नेकु निहारे कलंक लगै यहि गाँव बसे कहु कैसक **जीजै**। ह्वै बनमाल हिये **लगिये** अरु ह्वै मुरली अधरा-रस **पीजै**।—मतिराम

'दीजिए', 'कीजिए' का जैसा पुराना प्रयोग ऊपर दिखाया गया है वैसे ही पुराने कुछ और भी प्रयोग कवियों ने किए हैं। अपभ्रंश प्राकृत के जो अवतरण आरंभ में दिए गए हैं उनमें भूत (कृदंत) के 'मारिअ', 'चलिअ', 'जाईयउ' इत्यादि रूप देखने में आते हैं। इन्हीं रूपों से पंजावी मार्‌या, खड़ी और अवधी—मारा; व्रज—मार्‌यो, चल्यो, जायो इत्यादि रूप बने हैं। कहीं कहीं हिंदी के कवियों ने अपभ्रंश के पुराने रूप ज्यों के त्यों रख दिए हैं। केशवदासजी ने ऐसा वहुत किया है—

(क) पूजि रोचन स्वच्छ अच्छत पट्ट **बाँधिय** भाल। (=बाँधा)

(ख) भूपि भूपण शत्रुदूषण **छाँड़ियो** विहि काल। (= छोड़ा)

(ग) वन मांझ टेर सुनी कहूँ कुश **आइयो** अकुलाय। (= आया)

(घ) तव और बालक आनि। मग **रोकियो** तजि कानि। (= रोका)

'हो' धातु का भूतकाल खड़ी बोली में 'था' होता है पर ब्रज में 'हुतो', 'हतो' या 'हो' होता है। ब्रज की चलती बोलचाल में 'हुतो' और 'हुते' का 'हो' और 'हे' प्रायः हो जाता है, जैसे—

(क) बिनु पावस तो इन्हें थ्यावस **हो** न, सु क्यों करि ये अब सो परसैं?—घनानंद।

(ख) एक दिवस मेरे घर आए मैं **हो** महति दही।—सूर

(ग) तब तो छबि पीवत जीवत **हे** अब सोचन लोचन जात जरे।—घनानंद।

(घ) तब हार पहार से लागत **हे** अब आय कै बीच पहार परे।—घनानंद।

इस 'हतो' का प्रयोग बुंदेलखंड में अधिक है। काल-ज्ञापन के अर्थ जहाँ यह किसी क्रिया के साथ संयुक्त होता है वहाँ प्रायः 'ह' निकल जाता है केवल 'तो' रह जाता है। यह शुद्ध बुंदेलखंडी है—

(क) छाड़ो चाहत **ते** तब तें वन।

पाय निमित्त कर्‌यो मन पावन ।—केशव ।

(ख) अंगद जो तुम पै वल होतो ।

तो वह सूरज को सुत को तो ?—केशव ।

(ग) जल भरन जानकी आई तीं । गोद ललन लै आई तीं ।—गीत ।

इसी 'भू' धातु से बने भूतकृदंत को करणकारक का रूप देने से प्राकृत की 'हिंतो' (= से) विभक्ति बनी है । इस बात का स्पष्ट आभास केशवदास जी ने दिया है—

सीतापद सम्मुख हुतें गयों सिंधु के पार ।

विमुख भए क्यों जाउं तरि सुनौ, भरत, यहि बार ।

हुतें = हुए से = होने से । सूरदास जी ने इसका प्रयोग 'ओर से', 'तरफ़ से' के अर्थ में किया है—

श्रीदामा आदिक सब ग्वालन मेरे हुतो भेंटियो ।

प्राकृत की 'सुंतो' विभक्ति की प्रतिनिधि "सेँती" (= से) पुरानी खड़ी बोली में खुसरो और कबीर के बहुत पीछे तक थी—

तोहि पीर जो प्रेम की पाका सेंती खेल ।—कबीर ।

'ओर से', 'बदले में' के अर्थ में भी 'संती' अवधी में अब तक बोला जाता है ।

खड़ी बोली में आज्ञा और विधि में जहाँ क्रिया का साधारण रूप रखा जाता है (जैसे, तुम आना) वहाँ व्रज-भाषा धातु में 'इयो' लगती है, जैसे, आइयो, जाइयो, करियो, इत्यादि ।

कारक के कुछ प्रयोग भी ब्रजभाषा के निज के हैं जो न खड़ी बोली में होते हैं, न अवधी में। जैसे, अधिकरण चिह्न 'पै' का प्रयोग करण और अपादान के अर्थ में। उ०—(क) शेष शारदा पार न पावैं मोपै किमि कहि जैहै ? (ख)तू अलि ! कापै कहत बनाय ?—सूर।

साहित्य की जो भाषा होगी वह ऐसे सामान्य शब्दों को ही व्यवहार में लाएगी जिनका प्रचार दूर दूर तक होगा। किसी भूखंड के एक कोने का प्रयोग, चाहे वह कोना वहीं का क्यों न हो जहाँ की भाषा टकसाली मानी जाती है, शिष्ट प्रयोग में नहीं आएगा। शीघ्र के अर्थ में "सिदौसी" मथुरा वृन्दावन में बराबर बोला जाता है पर साहित्य में नहीं लिया गया है। इसी प्रकार जहाँ कर्म लुप्त होता है या नियत लिंग का नहीं होता वहाँ भूत० क्रिया 'कहा' को स्त्री० लिंग बोलने की प्रवृत्ति ब्रज में अधिक है जैसे, 'वाने कह्यो' के स्थान पर 'वाने कही'। स्वीकृति-सूचक शब्द 'अच्छा !' के स्थान पर भी "अच्छौ !" बोलते हैं। पर ऐसे प्रयोग साहित्य से प्रायः अलग रखे गए हैं।

अवधी की कुछ विशेषताएँ

पहले जो कुछ कहा जा चुका है उससे अवधी के स्वरूप का भी बहुत कुछ परिचय हो गया होगा। यद्यपि अवधी पूरबी हिंदी के अंतर्गत है पर उसके भीतर भी हम दो प्रकार के रूप पाते हैं—एक पच्छिमी, दूसरा पूरबी। पच्छिमी अवधी

व्रजभाषा से पूरबी की अपेक्षा कुछ अधिक मिलती है। अयोध्या और गोंडे के आसपास जो भाषा बोली जाती है वह पूरबी या शुद्ध अवधी है। लखनऊ, कानपुर से लेकर कन्नौज के पास तक जो भाषा बोली जाती है वह पच्छिमी अवधी है जिसके अंतर्गत बैसवाड़ी है। कन्नौज और इटावे के पास पहुँचते पहुँचते यह भाषा व्रजभाषा से यहाँ तक मिल जाती है कि ओकारांत रूप भी आ जाते हैं। तीन सर्वनाम ऐसे हैं जिन्हें पकड़ने से दोनों के स्थान का पता बहुत जल्दी लग सकता है। खड़ी बोली के 'कौन' 'जो' और 'वह' के हमें अवधी के क्षेत्र के भीतर ही दो दो रूप मिलते हैं—'को', 'जो', 'सो' और 'के', 'जे', 'से', या 'ते'। पच्छिमी अवधी में हमें 'को', 'जो', 'सो', मिलेंगे और पूरबी में 'के', 'जे', 'से', या 'ते'। जैसे, पच्छिमी—को आय?; पूरबी—के है?=कौन है? पच्छिमी—'जो जइहै सो पइहै'; पूरबी—'जे जाई से पाई' =जो जायगा वह पाएगा। 'को, जो, सो' शौरसेनीपन है और 'के, जे, से' मागधी या अर्द्धमागधीपन।

'को', 'जो', 'सो' के कारकचिह्नग्राही रूप व्रजभाषा के समान क्रमशः 'का', 'जा', 'ता' होंगे—जैसे काकर, जाकर, ताकर (पर 'केर' के योग में पच्छिमी अवधी में भी पूरबी का रूप रहता है जैसे 'केहि केर'), तासन। पर 'के', 'जे', 'से', के रूप सामान्य विभक्ति (हि) के साथ कारकचिह्न लगने पर भी नहीं बदलते, जैसे, केहिकर (या केकर), जेहि महँ-

(बोलचाल जेहि माँ), 'तेहि सन' इत्यादि। ब्रज और खड़ी के समान पच्छिमी अवधी में भी साधारण क्रिया का नान्त रूप रहता है जैसे, आवन, जान, करन इत्यादि पर पूरबी अवधी की साधारण क्रिया के अंत मेँ 'व' रहता है, जैसे, आउब, जाब, करब, हँसब इत्यादि। आगे कारकचिह्न या दूसरी क्रिया लगने पर खड़ी और ब्रज के समान पच्छिमी अवधी में नान्त रूप रहता है, जैसे, आवन काँ (पुराना रूप—आवन कहँ), करन माँ (पु० करन महँ), आवन लाग इत्यादि। पर पूरबी अवधी मेँ कारकचिह्न या दूसरी क्रिया संयुक्त होने पर साधारण क्रिया का रूप ही नहीं रहता वर्त्तमान का तिङन्त रूप हो जाता है जैसे 'आवै काँ', 'जाय माँ', (या 'आवै के, जाय मेँ'), 'करै कर', आवै लाग, करै लाग, 'सुनै चाहा' इत्यादि। करण के चिह्न के पहले पूरबी और पच्छिमी दोनों अवधी भूतकृदंत का रूप कर लेती है जैसे, आए से, चले से, आए सन, दिए सन। संयुक्त क्रिया के प्रयोग में तुलसीदास जी ने यह विलक्षणता की है कि एकवचन में तो पूरबी अवधी का रूप रखा है और बहुवचन में पच्छिमी अवधी का, जैसे—कहइ लाग, कहन लागे। पच्छिमी अवधी में ब्रजभाषा के समान प्रथम पुरुष एकवचन भविष्यत् क्रिया के अंत में 'है' होता है (जैसे, करिहै, सुनिहै, मिलिहै) पर पूरबी अवधी में पहले अंत में 'हि' था (जैसे—होइहि, आइहि, जाइहि) परंतु अब 'ह' के घिस जाने और बचे हुए 'इ' के पूर्व 'इ' के साथ मिल जाने से 'ई'कारांत रूप हो

गया है, जैसे, आई, जाई, करी, खाई। तुलसीदास जी ने भविष्यत् मैं पूरबी या शुद्ध अवधी का ही प्रयोग अधिक किया है, उ०—(क) **होइहि** सोइ जो राम रचि राखा। (ख) जस बर मैं बरनउँ तुम्ह पाहीं। **मिलिहि** उमहिं तस संसय नाहीं।

अवधी भाषा के साहित्य में दो ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं—जायसी की 'पद्मावत' और गोस्वामी तुलसीदास जी का 'राम-चरित-मानस'। इन दोनों ग्रंथों में पूरबी और पच्छिमी दोनों (अवधी) के रूप मिलते हैं—

(क) भयउ **सो** कुंभकरन बलधामा।—तुलसी

(ख) **तेइ** सब लोक लोकपति जीते।—तुलसी

(ग) **जाकर** चित अहिगति सम भाई।—तुलसी

(घ) **जेहि कर** जेहि पर सत्य सनेहू।—तुलसी
सो **तेहि** मिलत न कछु संदेहू।—तुलसी

(च) **तेहि कर** वचन मानि बिस्वासा।—तुलसी

(छ) जो **जाकर** सो **ताकर** भयऊ।—जायसी

(ज) **जेहि** कइ अस पनिहारी से रानी केहि रूप।—जायसी

(झ) लागीं सब मिलि **हेरइ**।—जायसी

(ट) लाग सो **कहइ** रामगुनगाथा।—तुलसी

(ठ) लगे चरन **चाँपन** दोउ भाई।—तुलसी

(ड) बंधु बिलोकि **कहन** अस लागे।—तुलसी

भूतकालिक क्रिया का आकारांत रूप विशुद्ध अवधी में

या तो सकर्मक उत्तम पुरुष बहुवचन में (विकल्प से) या अकर्मक प्रथम पुरुष एकवचन में होता है—जैसे, हम पावा, ऊ चला। पर साहित्य की अवधी में आकारांत भूतकालिक रूपों का पच्छिमी हिंदी के समान पुरुषभेदमुक्त स्वच्छंद प्रयोग भी बराबर मिलता है, जैसे-(क) कृपानिधान राम सब **जाना**। (ख) रहा बालि बानर मैं **जाना**। (ग) का पूछहु तुम अबहुँ न **जाना** ।–तुलसी। ठेठ अवधी में क्रिया का रूप सदा कर्त्ता के पुरुष (और लिंग वचन भी) के अनुसार होता है कभी कर्म के अनुसार नहीं, अतः उक्त तीनो उदाहरणों में 'जानना' क्रिया के रूप बोलचाल की अवधी के अनुसार क्रमशः 'जानिन', 'जान्यों', और 'जान्यो' होंगे।

भूतकालिक रूपों मेँ जहाँ खड़ी बोली में अंत में 'या' होता है वहाँ अवधी में 'वा' होता है—जैसे, आवा, लावा, बनावा। 'जाना', 'होना' के भूतकाल के रूप 'व' निकाल कर भी होते हैं—जैसे, 'गा', 'भा'।

भूतकालिक क्रिया के सर्वनाम कर्त्ता के प्रयोग में दोनों ग्रंथों में एक विलक्षणता देखने में आती है। अकर्मक के कर्त्ता के रूप तो पच्छिमी जो, सो, को मिलते हैं, जैसे, भयउ सो कुंभकरन बलधामा; पर सकर्मक के कर्त्ता के रूप केहि, जेहि, तेहि या केइ, जेइ, तेइ (बहु० व० किन, जिन, तिन) मिलते हैं और उनकी क्रियाओं के लिंग वचन कर्म के अनुसार (जैसा पच्छिमी हिंदी में होता है) होते हैँ जो अवधी की चाल के विरुद्ध है।

उ०—(क) वंदनीय **जेहि** जग जस पावा ।

(ख) मति कीरति गति भूति भलाई ।
जब जेहि जतन जहाँ **जेहि** पाई ॥

(ग) पारवती निरमयउ **जेइ** सो करिहै कल्यान ।

(घ) **तेहि** धरि देह चरित कृत नाना ।

(च) **तेहि** सब लोक लोक पति जीते ।

(छ) **जेइ** यह कथा सुनी नहिँ होई ।

(ज) **जिन** हरिभगति हृदय नहिँ आनी ।

(झ) दुइ जग तरा प्रेम **जेइ** खेला ।—जायसी

(ट) **केइ** सुकृती केहि घरी बसाए ।

कर्त्ता के पुरुष के अनुसार नियत अपने सकर्मक भूतकालिक रूपों के अतिरिक्त सुबीते के लिए पच्छिमी हिंदी का पुरुषभेदमुक्त रूप भी साहित्य में रख लिया गया यह बात तो समझ में आ जाती है पर कर्त्ता का रूप अपभ्रंश प्राकृत या पूरबी अवधी का क्यों रखा गया यह भेद नहीं खुलता। अवधी पूरबी भाषा है अतः उसमें भूतकालिक सकर्मक क्रिया कारकचिह्न-रहित कर्म के अनुसार नहीं होती सदा कर्त्ता के अनुरूप होती है। जायसी ने शुद्ध अवधी का प्रयोग अधिक किया है अतः उन्होंने क्रिया का रूप पुरुषभेदमुक्त रख कर भी उसे अकसर कर्म के लिंग वचन के अनुसार नहीं बदला है—

(क) भूलि चकोर दिहिटि तहँ **लावा** ।

(ख) कित तीतर बन जीभ **उघेला** ।

गोस्वामी तुलसीदास जी 'लावा' और 'उबेला' के स्थान पर 'लाई' और 'उबेली' लिखते। गोस्वामी जी साहित्य के पंडित थे और उनका परंपरागत काव्यभाषा से अधिक संबंध था इससे उन्होंने जहाँ क्रिया का पुरुषभेदवर्जित पच्छिमी रूप लिया वहाँ उसे नियमानुसार कर्म के लिंग वचन के बंधन में रखा पर जायसी बेचारे से वहाँ भी कहीं कहीं अवधीपन रह ही गया। तुलसीदास जी ने रामचरितमानस को छोड़ अपने और सब ग्रंथ प्रायः देश की सर्वमान्य काव्यभाषा व्रज-भाषा में ही लिखे यद्यपि उनमें भी जगह जगह अपनी मातृ-भाषा अवधी के शब्द (जैसे विनयपत्रिका में 'रोटी लूगा') वे बिना लाए न रह सके। साहित्य के संस्कार के कारण ही रामचरित-मानस में भी कहीं इधर उधर व्रजभाषा की झलक दिखाई पड़ जाती है—

(क) अस कहि चरण **गहे** वैदेही (कर्म के अनुरूप बहु व० क्रिया)

(ख) सुमन पाय मुनि पूजा **कीन्हीं** (कर्म के अनुसार स्त्री० क्रिया)

(ग) जनक विजय तिन्ह आनि **सुनाई** (वही)

(घ) मिलनि बिलोकि भरत रघुबर **की** (पच्छिमी संबंध-चिह्न)

(घ) अगम सनेह भरत रघुबर **को** (व्रज का संबंधचिह्न)

(ङ) बंदउँ राम नाम रघुबर **को** (वही)

(ज) मन जाहि **राचेउ मिलेउ** सो वर सहज सुन्दर **साँवरो** (व्रज का ओकारांत)

(झ) **बध्यो** चहत यहि कृपानिधाना (व्रज का ओकारांत कृदंत)

अवधी में क्रिया का रूप सदा कर्त्ता के लिंग, वचन और पुरुष के अनुसार होता है। सकर्मक भूतकालिक क्रियाओं के रूप भी कर्त्ता के पुरुष और वचन के अनुसार नियत होते हैं—

उत्तम पुरुष एक वचन–"मैं" (क) **जानेउँ** मरम राउ हँसि कहई–तुलसी

,, बहु व० "हम" (ख) अब भा मरन सत्य हम **जाना**—तुलसी

मध्यम पुरुष एक व० 'तैं' (क) प्रथमहिं कस न **जगायसि** आई।—तुलसी

,, बहु व० 'तुम या तूँ' (ख) देन **कहेहु** बरदान दुइ तेउ पावत संदेह। तुलसी

प्रथम पुरुष एक व० 'ऊ' या 'वह' (क) **प्रगटेसि** तुरत रुचिर ऋतुराजा।

,, बहु व० 'वै' या 'तिन'

(ख) जात पवनसुत देवन देखा।
जानइ कहँ बल बुद्धि बिसेखा॥
सुरसा नाम अहिन कै माता।
पठइन; आइ कही तेइ बाता॥

जैसा पहले कहा जा चुका है अवधी की रुचि लघ्वंत पदों की ओर रहती है इसी से वह भूतकालिक क्रियाओं के कुछ लघ्वंत रूप भी रखती है जिन में लिंग, वचन और पुरुष के विकार की गुंजाइश नहीं होती जैसे, कीन्ह, दीन्ह, लीन्ह, दीख, पैठ, लाग इत्यादि । उ०—

(क) मैं सब **कीन्ह** तोहि बिनु पूछे

(ख) मैं सब समुझि **दीख** मन माहीं ।

अवधी के कारकचिह्न इस प्रकार हैं—

कर्त्ता—...

कर्म —के, काँ (पुराना रूप कहँ)

करण—से, सन

संप्रदान—के, काँ (पुराना रूप कहँ)

अपादान—से, तें

संबंध—कै, कर (बोल चाल-'क') और केर

अधिकरण—में, माँ (पुराना रूप महँ) और पर

अवधी में संबंध के चिह्न तीन हैं 'कै', 'कर' और 'केर' । इन में से 'कै' और 'कर' में लिंगभेद नहीं है यद्यपि तुलसी दास जी ने 'कै' या 'कइ' को स्त्रीलिंग के संबंध में नियत सा कर दिया है जैसे, जिन्ह कइ रही भावना जैसी । पर बोल-चाल में इस प्रकार का कोई भेद नहीं है । इतना है कि कर का प्रयोग सर्वनामों के आगे अधिकतर करते हैं जैसे, एकर, ओकर या यहि कर, वहि कर, इनकर, उनकर इत्यादि । अवधी

के रूप लघ्वंत हैं इससे 'आपन', 'हमार', 'तुम्हार' आदि के स्त्री रूपों में भी (आपनि, हमारि, तुम्हारि) 'इ'कार उतना स्पष्ट नहीं रहता। 'केर' केवल पच्छिमी अवधी में है और इसमें लिंगभेद साफ़ है। इसी का बैसवाड़ी रूप 'क्यार' है—जैसे, "मनियादेउ महोबे क्यार"। 'केर' का ब्रज रूप यद्यपि 'केरो' है पर खास ब्रजमंडल के भीतर यह अब सुनने में नहीं आता। प्राकृत में भी यह संबंधचिह्न अपने पूरे लिंगभेद के साथ मिलता है—पुं० केरओ, स्त्री० केरिआ, न० केरअं या केरउँ। पुं० केरो, केरु; स्त्री० केरी; न० केरं। 'केरओ' आदि रूप पुराने हैं, उ०—एसोक्खु अलंकारओ अज्जाए केरओ (मृच्छ०)= यह अलंकार आर्या का है। पिछले पुं० रूप 'केरो' और 'केरु' हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि दीर्घांत रूप 'केरो' ब्रज और लघ्वंत रूप 'केरु' अवधी है। यह 'केर' या 'केरो' सं० 'कृत' से निकला हुआ माना गया है।

व्यक्तिवाचक के अतिरिक्त और सर्व नामों के रूप अवधी में इस प्रकार हैं। यह = यह (पच्छिमी अवधी),ई (पूरबी), (बहु० ये–ए)। वह = वह (पच्छिमी अवधी),ऊ (पूरबी); 'सो' (पच्छिमी अवधी), से, तौन, ते (पूरबी), (बहु० वै, ते—वै, ते)। जो = जो (पच्छिमी अवधी); जे, जौन (पूरबी अवधी); (बहु० जो—जे)। कौन = को (पच्छिमी अवधी); के, कौन (पूरबी अवधी; (बहु० को–के)। इनमें से पूरबी 'जौन', 'तौन', और 'कौन' जड़ पदार्थों के लिए अथवा व्यक्ति के संबंध में लघुत्व सूचित करने के

लिए आते हैं जैसे, जौन कुछ पावा तौन दै दीन। साहित्य की अवधी में 'ई' और 'ऊ' के स्थान पर 'यह', 'वह' अथवा 'सो' का प्रयोग अधिकतर मिलता है, उ०—(क) मुनि न होइ **यह** निसिचर घोरा। (ख) तुइँ सुरंग सूरत **वह** कही—जायसी। पच्छिमी अवधी कारकचिह्न ग्रहण करने के पूर्व व्रज के समान इनके रूप क्रमशः 'या', 'वा', 'ता', 'जा' और 'का' कर लेती है, जैसे, जितिहहिं राम न संसय **या** महँ। पर पूरबी या शुद्ध अवधी पुराने सामान्य विभक्तियुक्त रूप एहि, ओहि, तेहि, जेहि, केहि रखती है, जैसे, एहि कर, ओहि कर; एहि काँ, ओहि काँ, जेहि काँ, तेहि काँ इत्यादि।

रामायण, पद्मावत आदि में विभक्ति के रूप में अथवा वर्त्तमान, भविष्यत् और आज्ञा विधिसूचक क्रियापदों के अंत में 'हि' 'हिं' या 'हु' 'हुँ'—रामहिं, उनहिं, तिनहिं, जाहिँ, करहिँ, करिहहि, करिहि, करहु, चलहु—देख कर लोग इन्हें अवधी का चिह्न समझा करते हैं। पर ये रूप न तो बोल चाल की अवधी के हैं, न व्रज के। ये प्राकृत या अपभ्रंश काल के रूप हैं जिनको कविपरंपरा रक्षित रखती आई है। संज्ञाशब्दों से तो 'हि' विभक्ति के 'ह' को घिसे बहुत दिन हुए; सर्वनामों में यह कुछ बनी हुई है—जैसे, कारकचिह्नों के योग में 'एहि सन, ओहि माँ, जेहि कर' आदि में और व्रज के 'जाहि, ताहि, वाहि' में प्रत्यक्ष रूप में और व्रज और अवधी के इन्हैं, उन्हैं, जिन्हैं तथा खड़ी बोली के इन्हें, उन्हें, जिन्हें में

परोक्ष रूप में। इसी प्रकार 'आवै', 'जायँ', 'करै' 'करिहै' 'चलौ' जैसे आज व्रज और अवधी दोनों में बोले जाते हैं वैसे ही सूर और तुलसी के समय में भी बोले जाते थे—'आवहिं', 'जाहिँ' 'करहिं' 'करिहहि' 'चलहु' कोई नहीं बोलता था। जब कि एक ही कवि ने अपनी कविता में एक ही शब्द को दो रूपों में लिखा है जिनमें से एक रूप तो आजकल भी ज्योँ का त्योँ है और दूसरा रूप अब नहीं है पर उस कवि से बहुत पहले भी मिलता है तब यह एक प्रकार से निश्चित है कि उसके समय की बोलचाल में पहला ही रूप था दूसरा रूप उसने प्राचीनों के अनुकरण में लिखा है।

इसी प्रकार 'गयउ', 'भयउ', 'दीन्हेउ', 'लीन्हेउ', 'कियउ' इत्यादि अवधी के रूप नहीं हैं, पच्छिमी अपभ्रंश के पुराने रूप हैं जिनसे व्रजभाषा के 'गयो', 'भयो', 'दीन्हों', 'लीन्हो', 'कियो', इत्यादि रूप बने हैं।

प्रथम पुरुष की भूतकालिक क्रियाएँ 'ओ' या 'औ'(अ + उ) कारांत अवधी में नहीं हैं। अवधी में बहुवचन उत्तम पुरुष की सकर्मक भूतकालिक क्रिया और प्रथम पुरुष एकवचन की अकर्मक भूतकालिक क्रिया आकारांत होती है जैसे हम जाना, हम सुना, ऊ चला, घोड़ा दौरा, रावण हँसा इत्यादि। जहाँ पच्छिमी हिंदी की सकर्मक भूतकालिक क्रिया ली गई है वहाँ भी खड़ी बोली की तरह 'आकारांत' रूप रखा गया है, व्रज की तरह ओकारांत नहीं, जैसे, राम कृपा करि चितवा जबहीं।—तुलसी।

आज्ञा और विधि में जहां खड़ी बोली में क्रिया का साधारण रूप आता है (जैसे, तुम आना) वहाँ अवधी में धातु में 'यो' लगता है, ब्रजभाषा के समान 'इयो' नहीं—जैसे, तुम (या तूँ) आयो, जायो, कह्यो, दिह्यो, चल्यो इत्यादि।

अवधी भाषा के काव्यों पर टीका लिखने का प्रयत्न उन्हीं लोगों को करना चाहिए जो उसके स्वरूप को पहचानते हैं और उसके शब्दों से परिचित हैं नहीं तो "रोटी लूगा" (=रोटी कपड़ा, पंजा० लुंगी, राज० लूगड़ी लूगड़ा) का अर्थ "रोटी लूँगा" लिखने की नौबत आ जाती है। अवधी काव्य की परंपरा बहुत पुरानी है पर अवधी वैसी व्यापक काव्य-भाषा न बन सकी जैसी ब्रज। आख्यान-काव्य लिखने में जो सफलता अवधी के कवियों को हुई है वह ब्रजभाषा के कवियों को नहीं। रामचरितमानस और पद्मावत ये दो काव्य तो बहुत प्रसिद्ध हैं पर इनके पहले के और पीछे के काव्य भी हैं—जैसे, मधुमालती, चित्रावली, इंद्रावती, मृगावती। रहीम का बरवै नायिकाभेद भी ठेठ अवधी में है। कबीर की भाषा मिलीजुली होने पर भी अधिकांश पूरबी ही है। अयोध्या के आस पास की पूरबी या शुद्ध अवधी का नमूना देखना हो तो बाबा रघुनाथदास का विश्रामसागर देखना चाहिए।

अवधी और ब्रजभाषा के बीच जो थोड़े से भेद दिखाए गए वे पहचान के लिए बहुत हैं। इनके सहारे हम देख सकते हैं कि किस कवि ने भाषा के जीते जागते रूप को पहचान कर

चलती व्रजभाषा का प्रयोग किया है और किसने अवधी के और कुछ पुराने रूपों को मिला कर एक कृत्रिम सामान्य भाषा का आश्रय लिया है। अवधी और व्रज में स्वरूप-भेद देख कर हम समझ सकते हैं कि दोनों का सौंदर्य्य अलग अलग है। एक में दूसरे का पुट देने से भाषा के स्वाभाविक सौंदर्य में कुछ विघात पड़ता है। यद्यपि अवध और बुँदेलखंड में व्रजभाषा पर पूर्ण अधिकार रखनेवाले अच्छे अच्छे कवि हुए हैं पर उन्होंने मिश्रभाषा का आश्रय जगह जगह लिया है। बुंदेलखंड की भाषा यद्यपि व्रजभाषा ही है पर उसका लगाव उन प्रदेशों से बहुत दूर तक है जिनमें अवधी बोली जाती है। बघेलखंड की भाषा तो अवधी है ही। इधर फ़तहपुर और बाँदे तक अवधी चली गई है। नीचे व्रजभाषा की कविता में अवधी या पूरबी प्रयोगों के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

(१) कहा रन मंडन मो **सन** आयो।—केशव।

(२) धिक तो **कहँ** जो अजहूँ तू जियै।—केशव।

(३) माता पिता कवन कौनहि कर्म **कीन**?
विद्याविनोद सिख, कौनहि अस्त्र **दीन**?—केशव।

(४) पुत्र! हौं विधवा करी तुम कर्म **कीन** दुरंत।
—केशव।

(५) रामहि राम कहै रसना, **कस** ना तु भजै रस नाम सही को।—पद्माकर।

(६) सावनी तीज सुहावनी को सजि सूहे दुकूल सबै सुख **साधा** ।—पद्माकर ।

(७) जो बिहँसै मुख सुंदर तौ मतिराम **बिहान** को वारिज लाजै ।—मतिराम ।

(८) बसननि तानि के **बयारि** वारियतु है ।—मतिराम ।

(९) जा कहँ जासह हेतु नहीं कहिए सु कहा **तिहिको** गति जानै ।—दास ।

(१०) हिम्मत यहाँ **लगि** है जाकी भट-जोट में ।—भूषण ।

(११) जमुनाजल को जात ही डगरी **गगरी**-जाल—दास (ब्रज 'गागर' होगा)

(१२) दौरि दौरि **जेहि तेहि** लाल करि डारति है ।—दास ।

(१३) निकस्यो **झरोखा** ह्वै कै बिगस्यो कमलसम ।—कालिदास । (ब्रज में 'झरोखे' होगा)

(१४) छंद **भरे** में एक पद ध्वनि प्रकास करि देइ ।—दास ।

(१५) भालु-कपि-कटक **अचंभा** जकि ज्वै रह्यो ।—दास । (ब्रज 'अचंभो' होगा)

(१६) आलम **जौन** से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं ।—आलम ।

यह तो अवधी का मेल हुआ, अब खड़ी बोली की शान देखिए—

मंद मंद गति सोँ गयंद गति **खोने** लगी, **बोने** लगी विष सो अलक अहि छोने सी। लंक नवला की कुच भारन **दुनौने** लगी, **होने** लगी तनु की चटक चारु सोने सी। तिरछी चितौनि में विनोदनि **बितौने** लगी, लगी मृदु बातन सुधारस **निचोने** सी।—दास। (खड़ी, गँवारों के मुँह की)

बिहारी ने चलती ब्रजभाषा का ध्यान बहुत रखा है। उनकी भाषा बहुत सुंदर है। पर पूरबी या अवधी प्रयोग उनकी सतसई में भी हैं—

(१) किती न गोकुल कुलबधू काहि न **केइ** सिख **दीन**?

(२) नूतन विधि हेमंत ऋतु जगत जुराफा **कीन**।

(३) देखि परे योँ जानिबी दामिनि घन **अँधियार**।

(४) त्योँ त्योँ निपट उदार हू **फगुआ** देत बनै न (ब्रज रूप 'फाग' है)

इसी प्रकार बिहारी का 'सोनकिरवा' शब्द भी नितांत पूरबी है। शायद ग्राम्यत्व प्रदर्शित करने के लिए बिहारी यह शब्द लाए होँ। पर ग्राम पूरब में ही नहीं होते, पच्छिम में भी होते हैं। दास के भाषालक्षण के अनुसार कवियों ने 'खुस-बोयन', 'दराज' आदि द्वारा भाषा कविता को गँवारू सा बना दिया। ब्रजभाषा का कोई व्याकरण न होने से तथा अशिष्ट और अशिक्षित लोगों के कवित्त सवैया कह चलने से वाक्यर-चना और भी अव्यवस्थित तथा भाषा और भी बिना ठीक ठिकाने की हो गई। कवियोँ का ध्यान भाषा के सौष्ठव और सफ़ाई

पर न रह गया। शब्दालंकार की धुन रही। इससे च्युत-संस्कृति और ग्राम्यत्व दोष बहुत कुछ आ गया। भूषण कवि तक "भूखन पियासन हैं नाहन को निंदते" भनने में कुछ भी न हिचके। "अपि माषं मषं कुर्यात् छन्दोभङ्गं न कारयेत्" का भी उचित से अधिक लाभ उठाया गया। 'सु' की भरती का तो कहना ही क्या है! इधर सौ वर्ष से हिंदीगद्य में खड़ी बोली चल रही है पर उसकी भी कई बार यही दशा होते होते बची है। अभी बहुत दिन नहीं हुए बनारस के एक ज्योतिषी ने अपने गाँव में खूँटा गाड़ कर उसे हिंदी भाषा का केंद्र ठहराया था और 'ने' के प्रयोग पर चकपका कर "सूतते हैं" की हवा बहानी चाही थी।

पर यह न समझना चाहिए कि भाषा की परवा करनेवाले कवि हुए ही नहीं। रसखान और घनानंद ऐसे जीती जागती वाणी के कवियों को देखते कौन ऐसा कह सकता है? ब्रज-भाषा के कवियों में ज़बान का अगर किसी ने दावा किया है तो घनानंद ने। यह दावा दुरुस्त भी है—

नेही महा **ब्रजभाषा-प्रवीन** औ सुंदरतान के भेद को जानै।
भाषा-प्रवीन सुछंद सदा रहै सो घन जू के कवित्त बखानै॥

दूसरी प्राणप्रतिष्ठा

काव्यभाषा या ब्रजभाषा का दूसरा संस्कार राजा लक्ष्मणसिंह द्वारा हुआ जिसमें भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भी कुछ योग दिया। पर जिस प्रकार इन महानुभावों से यह काम अनजान में हुआ उसी

प्रकार किसी ने इसके महत्व की ओर ध्यान भी नहीं दिया। राजा साहब ने बहुत पुराने पड़े हुए, व्यवहार से उठे हुए और आजकल के कानों को भद्दे लगनेवाले सड़े गले शब्दों को छाँट कर ब्रज की बोलचाल का निखरा हुआ माधुर्य दिखाया। उन्होंने ब्रजभाषा की कविता को फिर जीता जागता रूप दिया। उनका मेघदूत हाथ में ले कर जो

"थक जायगी दामिनि तेरी तिया बड़ी बेर लौं हास विलास करे। टिक लीजियो रात में काहू अटा जहँ सोवत होयँ परेवा परे"

पढ़ेगा वह उनकी भाषा की सफाई और सजीवता पर मोहित होगा।

पंडित श्रीधरजी पाठक विद्यमान हैं जिनकी वाणी में ब्रजभाषा की जीती जागती कला जो चाहे वह प्रत्यक्ष देख सकता है—थोड़ा उनका ऋतुसंहार का अनुवाद आँखों के सामने लाए। ऐसी भाषा को देखते ब्रजभाषा को जो 'ऐतिहासिक' या 'मरी हुई' कहे उसे अपना अनाड़ीपन दूर करने के लिए दिल्ली भाड़ झोंकने न जाना होगा, मथुरा की एक परिक्रमा से ही काम चल जायगा।

काशी,
रामनवमी
१९७९

रामचन्द्रशुक्ल

बुद्ध-चरित



प्रथम सर्ग



जन्म

दिक्पति चार अरूपलोक तर सदा विराजत,
जे या जग के बीच अटल अनुशासन साजत ।
तिनके तर है तुषितलोक जहँ जीव श्रेष्ठतर
त्रिगुण-सहस-दस वर्ष वास करि जनमत भू पर ।
रहे जबै या लोक बुद्ध भगवान् दयामय
जन्म चिह्न भे प्रगट पाँच तिनपै अति निश्चय ।
तुरत तिन्हैं पहिचानि देवगण ने कीनी धुनि
"जैहैं जग-कल्याण हेतु भगवान् बुद्ध पुनि" ।
तब बोले भगवान् "जात हौं जग-सहाय हित
अब मैं अंतिम बार; भयो बहु बार जात तित ।
जन्म मरण सों रहित होयहौं मैं औ वे जन
जे चलिहैं मम धर्म मार्ग पै ह्वै निश्चल मन ।
शाक्यवंश में अवतरिहौं हिमगिरि दक्षिण-तट,
बसति धर्मरत प्रजा जहाँ नृप न्यायी उद्भट ।

वाही निशि शुद्धोदन नृप की रानी माया
सोई पति ढिग लखी स्वप्न में अद्भुत छाया ।
देख्यो सपने में प्रवालद्युति निर्मल तारो,
दीप्तिमान् षड् अंशु धरे अतिशय उजियारो,
नभ मंडल तें छूटि तासु ढिग दमकत आयो
औ दहिनी दिशि आय गर्भ में तासु समायो,
जासों लक्षित भयो एक मातंग मनोहर
षड् दंतन सो युक्त छीर सम श्वेत कांतिधर ।
जागी जब आनंद अलौकिक उर में छायो
ऐसो जैसो काहु जननि ने कबहुँ न पायो ।

पूर्व ही प्रभात के प्रभा पुनीत जो छई
अर्द्धमंडलांत भूमि भासमान ह्वै गई ।
काँपिगे पहार, सिंधुनीर धीरता गही;
फूल भानु पाय जो खिलैं, खिले अकाल ही ।

मोद की तरंग प्रेतलोक लौं गई बढ़ी,
भानुज्योति अंधकार भेदि जाति ज्यों चढ़ी ।
मंजु घोष होत "जीव होयँ जे जहाँ वहे
आस कै उठैं सुनैं, पधारि बुद्ध हैं रहे" ।

लोक लोक में गई अपार शांति छाय है,
फूलि ते रहे उमंग ना हिये समाय है ।

भूमि औ पयोधि पै समीर धीर जो वह्यो
और ही रह्यो कछू, न जात काहु पै कह्यो।

भयो ज्यों ही भोर वहु दैवज्ञ बूढ़े आय
लगे भाखन स्वप्न को फल भूप सों हरखाय—
"कर्क बीच दिनेश हैं सब योग शुभ या काल
स्वप्न को फल परम सुंदर होयहै, नरपाल!

श्री महादेवी जायहैं सुत ज्ञानवान् अपार
जो साधिहै या जगत् के सब जीव को उपकार,
अज्ञान तें उद्धारिहै जो सकल मनुज-समाज,
ना तो सकल जग शासिहै जो करन चहिहै राज।"

गर्भ पूज्यो; उठी माया के हृदय यह बात
देवदह चलि पिता के घर लखौं शिशु नवजात।
ह्वै गयो मध्याह्न ताको लुंबिनीवन जात
शालतरु तर एक ठाढ़ी भई पुलकित गात।

शिखर सम सो खरो सूधो विटप परम विशाल
नवल किशलय धरे, सुरभित-सुमन-मंडित भाल।
बुद्ध को आगमन ज्यों सब वस्तु रहीं जनाय
परयो आगम जानि वाहू को, उठ्यो लहराय।

हेरि महिमा महादेवी पै सहित सम्मान
हरी डार नवाय सुन्दर दियो तानि वितान।
भूमि सहसा लाय सुमनन दई सेज सजाय।
न्हायबे हित ताहि सोतो विमल फूटो आय।

कियो रानी ने प्रसव बिनु पीर शिशु अवदात
बुद्ध के बत्तीस लक्षण रहे जाके गात।
पहुँचिगो संवाद शुभ प्रासाद में तब जाय।
लेन तिनको गई चित्रित पालकी चट आय।

मेरु तें चलि आय वाहक बने सब दिक्पाल
कर्म प्राणिन के लिखत जे रहत हैं सब काल।
पूर्व को दिक्पाल आयो, जासु अनुचर-जाल
रजत अंबर धवल धारे, लिए मुक्ता ढाल।

चल्यो दक्षिणपाल लै कुंभांडगण की भीर,
नील बाजिन चढ़े, नीलम ढाल साजे वीर।
चल्यो पश्चिमपाल जाके नागगण हैं संग
गहे ढाल प्रवाल की, औ चढ़े रक्त तुरंग।

घेरि उत्तरलोकपालहिं कनकमंडित गात
पीत हय पै स्वर्ण ढालन सजे यक्ष लखात।
शक्तिधर सब देव आए अलख वैभव संग;
पालकी पै दियो कंध लगाय सहित उमंग।

रहे वाहक रूप में कोउ तिन्हैं जान्यो नाहिं ।
देवगण वा दिवस विचरे मिले मनुजन माहिं ।
रह्यो स्वर्ग उछाह सों भरि गुनि जगत कल्यान,
जानि यह नरलोक में पुनि अवतरे भगवान ।

नृप यह जान्यो नाहिं रही चिन्ता चित व्यापी ।
"कह्यो गणकगण आय, पुत्र यह परम प्रतापी ।
चक्रवर्त्ति यह सोइ भूमि भोगन जीवन भर
आवत है जो प्रति सहस्र वत्सर या भू पर ।
सात रत्न यहि सुलभ—प्रथम है चक्ररत्न वर;
अश्वरत्न जो भरि गुमान पग धरत मेघ पर;
हस्तिरत्न हिम सरिस श्वेत वाहन सुन्दर अति;
नीतिविशारद सचिव तथा दुर्जय सेनापति;
भार्य्या अनुपम रूपवती युवती सुकुमारी,
रमणीरत्न अमोल उषा सों बढ़ि उजियारी" ।
सुनि सुत-वैभव नृपति हरषि अनुशासन फेरो
'उत्सव और उछाह नगर में होय घनेरो' ।

सब बाट जाति वहारि, चंदननीर छिरको जात है ।
दमकत द्रुमन पै दीप, फहरत केतु बहु दरसात हैं ।
सजि सूर खाँड़े धारि कर में करत आसन पैंतरे ।
नट इंद्रजालिक-खेल देखत लोग कहुँ अचरज भरे ।

कहुँ नर्त्तकी चुनि चूनरी,पग घूँघरू झनकारतीं,
निज चपल चरनन के चहूँ दिशि मंद हास उभारतीं।
तीतर बटेर बटोरि कोऊ कतहुँ रहे लड़ाय हैं।
बैठे मदारी कतहुँ मर्कट भालु रहे नचाय हैं।

इत भिरत मोटे मल्ल नाना दाँव पेच दिखाय कै।
उत वाद्यकार मृदंग ढोल बजाय साज मिलाय कै
आलाप छाँड़त बीन की झनकार मंजु उठाय हैं,
यों देत रसिक-समाज को बदि बदि हियो हुलसाय हैं।

बहु बणिक आए दूर तें संवाद शुभ यह पायकै
लै भेंट की बहु वस्तु सुंदर कनक थार सजायकै—
कौशेय अंशुक चीन के, नव शाल बहु कश्मीर के,
मणि पुष्पराग, प्रवाल, मोती सुघर सागर तीर के।

सुंदर खिलौनन के मनोहर मेल कहुँ सोहत धरे;
घनसार, कुंकुम, अगर, मृगमद, भार चंदन के भरे।
कोउ धरत अंबर धूपछाँह सुरंग झीने लाय हैं,
नहिं जासु बारह पर्त्त सकत सलज्ज वदन छपाय हैं।

सारी किनारी जासु मोतिन सों जरी अति झलझली,
अति भव्य भूषण, वसन, भाजन, फलन फूलन की डली,
बहु भेंट पठवत करद पुर, सब भवन भूपति को भरो।
'सिद्धार्थ' वा 'सर्वार्थसिद्ध' कुमार नाम गयो धरो।

आए अपरिचित जनन मैं ऋषि असित परम पुनीत
संसार सोँ फिरि श्रवण जिनके सुनत सुर-संगीत;
अश्वत्थ तर बैठे रहे जो धरे अपनो ध्यान;
तहँ बुद्ध-जन्म-उछाह को सुनि परयो नभ में गान।

सोहत पुराणप्रवीण पूर्ण प्रकार तपबल पाय।
सम्मान सोँ नियराय नरपति परे पाँयन जाय।
उत महारानी आय पाँयन पै दियो सिसु डारि;
पै देखि ताहि मुनीश चरनन टारि उठे पुकारि—

"हे देवि! करती कहा?" पुनि शिशु-चरनरज सिर लाय
मुनि कह्यो "हौ तुम सोइ बंदन करत हौँ सिर नाय।
मृदु ज्योति लसति अपूर्व, स्वस्तिक चिह्न सो दरसात,
बत्तीस लच्चण मुख्य, अनुव्यंजन असी अवदात।

हो बुद्ध; धर्म सिखाय करिहौ लोक को उद्धार;
अनुसरण करिहैं जीव जे ते होयहैं भव पार।
तब ताइँ रहिहौं नाहिं, मेरी अवधि गइ नियराय।
तन राखि करिहौं कहा ह्वै कृतकृत्य दर्शन पाय?

भूपाल परम सुजान! जानौ कली है यह सोय
कल्पांत में कहुँ एक बार विकाश जाको होय;
जग ज्ञान-सौरभ, प्रेम के मकरंद सोँ भरि जाय;
तव राजकुल में आज यह अरविंद फूट्यो आय।

या भवन को अति भाग्य! पै कछु दुःख हू दरसात।
नृप ! तुम्हैं या सुत हेतु परिहै सहन हिय आघात।
हे देवि! सुर नर प्रिय भई यह गर्भ धरि जग माहिं;
भवताप भोगै और तू अब ह्वै सकत यह नाहिं।

क्लेशरूप यह जीवन जो सो नहिँ रहि जैहै।
सात दिवस में करि याको तू अंत सिधैहै।"

सातवेँ दिन भई वाणी सत्य, निज गृह माहिं
राति सुख सोँ सोय रानी फेरि जागी नाहिं।
त्रयस्त्रिंशत् स्वर्ग में सो जाय लियो निवास
देवगण जहँ रहत सेवा में खड़े चहुँ पास।

महा प्रजावति लागी पालन शिशु सुखकारी;
सींचन लागी कंठ सकल-जग-मंगलकारी।

शिक्षा

आठ वर्ष के भे कुमार जब नृप मन माहिं विचारो,
राजकुमारहिं चहिय पढ़ावन राजधर्म अब सारो।
चमत्कार गुनि सकल महीपति आगम-कथन विचारै;
चाहत नहिं है बुद्ध पुत्र मम जग में ज्ञान पसारै।
भरी सभा के बीच एक दिन भूपति बैठ्यो जाई।
पूछ्यो सब मंत्रिन सों अपने सादर निकट बुलाई

"कहौ, सचिववर! कौन नरन में अति विद्वान् कहावै;
राजपुत्र के जोग सकल गुण जो मम सुतहिं सिखावै।
कह्यो एक स्वर सों सब मिलि कै "सुनौ, नृपति! यह वानी,
विश्वामित्र समान न कोऊ बुद्धिमान् औ ज्ञानी।
वेद-विषय-पारंगत सब विधि, शास्त्रज्ञान में रूरो,
धनुर्वेद में चतुर लसत सो, सकल कला में पूरो।"
विश्वामित्र आय नृप आज्ञा सुनी, अमित सुख पायो।
शुभ दिन औ शुभ घरी माहिँ पुनि कुँवर पढ़न को आयो।
रत्नजरी रँगी चंदन की पाटी काँख दबाई
लिए लेखनी गुरु समीप भे ठाढ़े दीठि नवाई।
तब बोले आचार्य्य "वत्स! तुम लिखौ मंत्र यह सारो"।
यों कहि पावन गायत्री को मूल मंत्र उच्चारो
धीमे स्वर सों, सुनै न जासों कोउ निषिद्ध नर नारी;
सुनिबे के केवल हैं जाके तीन वर्ण अधिकारी।

"लिखत अबै, आचार्य्य!" कुँवर बोल्यो विनीत स्वर।
लिख्यो अनेकन लिपिन मंत्र पावन पाटी पर।
ब्राह्मी, दच्छिण, देव, उग्र, मांगल्य, अंग लिपि,
दरद, खास्य, मध्याच्छर-विस्तर, मगध, वंग लिपि,
औ खरोष्ठी, यच्छ, नाग, किन्नर, सागर पुनि
लिखि दिखराए कुँवर सबन के अच्छर चुनि चुनि।
मग शक आदिक के अच्छर हू छूटे नाहीं,

सूर्य्य अग्नि की जो उपासना करत सदाहीं।
बोलिन में वहु चल्यो मंत्र सावित्री पुनि भनि
कह्यो गुरु "बस करौ, चलो अब तो गनती गनि।
कहत चलौ मम साथ नाम संख्यन को तौलौं
पहुँचि जायँ हम, कुँवर! लाख पर्य्यंत न जौ लौं।
कहत एक, द्वै, तीन, चार तें दस लौं जाओ,
दस तें सौ लौं, पुनि सौ तें चलि सहस गनाओ।"
ता पाछे गनि गयो कुँवर एकाइ दहाई,
शत सहस्र औ अयुत लक्ष लौं पहुँच्यो जाई,
गनत गयो कहुँ रुक्यो नाहिं सो कुँवर सयानो
"ताके आगे प्रयुत कोटि औ अर्वुद मानो।
पद्म, खर्व औ महाखर्व औ महापद्म पुनि।"
असंख्येय लौं गनत गयो, सुनि चकित भए मुनि।
बोले मुनि "है बहुत ठीक, हे कुँवर हमारे
अब आयत परिमाण बताऊँ तुमको सारे"।
यह सुनि राजकुमार वचन बोल्यो विनीत अति
"श्रवण करौ, आचार्य्य! कहत हौं सकल यथामति।
दस परमाणुन को मिलाय परिसूक्ष्म कहत हैं
जोरे दस परिसूक्ष्म एक त्रसरेणु लहत हैं।
देत सप्त त्रसरेणु-योग अणु एक बनाई*
भवनरंध्रगत रविकर में जो परत लखाई।

---

*यह मान वैशेषिक आदि में माने हुए मान से भिन्न है।

सात अणुन को योग एक केशाग्र कहावत,
जो दस मिलि कै लिख्या की हैं संज्ञा पावत।
दस लिख्या को एक यूक सब मानत आवैं।
दस यूकन को एक यवोदर सबै बतावैं।
दस जौ जोरे होत एक अंगुल योँ मानत।
बारह अंगुल को वितस्त सिगरो जग जानत।
ताके आगे हस्त, दंड, धनु, लट्ठा आवैं।
लट्ठन को लै बीस श्वास दूरी ठहरावैं।
तेती दूरी श्वास होति जेती के बाहर
एक साँस में चलो जाय बिनु थमे कोउ नर।
चालिस श्वासन की दूरी को गो ठहरावत।
होत चार गो को योजन यह सबै बतावत।
यदि आयसु तव होय कहौं अब मैं, हे गुरुवर!
केते अणु अँटि सकत एक योजन के भीतर।"
यों कहि तुरत कुमार दियो अणुयोग बताई।
सुनतहि विश्वामित्र परे चरनन पै जाई।
बोले मुनि "तू सकल गुरुन को गुरु जग माहीं।
तू मेरो गुरु, मैं तेरो गुरु निश्चय नाहीं।
बंदत हौं, सर्वज्ञ कुँवर! तेरो पद पावन;
मम चटसारहिं आयो तू केवल दरसावन—
बिनु पोथिन ही सकल तत्त्व तू आपहि छानत;
तापै गुरुजन को आदर हू पूरो जानत।"

करत श्री भगवान गुरुजन को सदा सम्मान;
वचन कहत विनीत यद्यपि परम ज्ञाननिधान।
राजतेज लखात मुख पै, तदपि मृदु व्यवहार;
हृदय परम सुशील कोमल, यदपि शूर अपार।

कबहुँ जात अहेर को जब सखा लै सँग माहिँ
साहसी असवार तिन सम कोउ निकसत नाहिँ।
राजभवन समीप कबहूँ होड़ जो लगि जाय
रथ चलावन माहिँ कोऊ तिन्हैँ सकत न पाय।

करत रहत अहेर सहसा ठिठकि जात कुमार;
जान देत कुरंग को भजि, लगत करन विचार।
कबहुँ जब घुरदौर में हय हाँफि छाँड़त साँस,
हार अपनी हेरि वा जब सखा होत उदास,

लगत कोऊ बात अथवा गुनन मन में आनि
जीति आधी कुँवर बाजी खोय देतो जानि।
बढ़त ज्यों ज्यों गयो प्रभु को वयस् लहि दिन राति
बढ़ति दिन दिन गई तिनकी दया याही भाँति।

यथा कोमल पात द्वै तें होत विटप विशाल,
करत छाया दूर लौं बहु जो गए कछु काल।
किंतु जानत नाहिँ अब लौं रह्यो राजकुमार
क्लेश, पीड़ा, शोक काको कहत है संसार।

इन्हैं ऐसी वस्तु कोऊ गुनत सो मन माहिँ
राजकुल में कबहुँ अनुभव होत जिनको नाहिं ।

एक दिवस वसंत ऋतु में भई ऐसी बात,
रहे उपवन बीच सोँ ह्वै हंस उड़ि कै जात ।

जात उत्तर ओर निज निज नीड़ दिशि ते धाय,
शुभ्र हिमगिरि-अंक में जो लसत ऊपर जाय ।
प्रेम के सुर भरत, बाँधे धवल सुंदर पाँति
उड़े जात विहंग कलरव करत नाना भाँति ।

देवदत्त कुमार चाप उठाय, शर संधानि
लक्ष्य अगिले हंस को करि मारि दीनो तानि ।
जाय बैठ्यो पंख मैँ सो हंस के सुकुमार,
रह्यो फैल्यो करन हित जो नील नभ को पार ।

गिर्‌यो खग भहराय, तन में विंध्यो विशिख कराल;
रक्तरंजित ह्वै गयो सब श्वेत पंख विशाल ।
देखि यह सिद्धार्थ लीनो धाय ताहि उठाय,
गोद में लै जाय बैठ्यो पद्म-आसन लाय ।

फेरि कर लघु जीव को भय दियो सकल छुड़ाय,
और धरकत हृदय को योँ दियो धीर धराय ।
नवल कोमल कदलिदल सम करन सोँ सहराय,
प्रेम सोँ पुचकारि ताकत तासु मुख दुख पाय ।

खैंचि लीनो निठुर शर करि यत्न वारंवार।
घाव पै धरि जड़ी बूटी कियो बहु उपचार।
देखिबे हित पीर कैसी होति लागे तीर
लियो कुँवर धँसाय सो शर आप खोलि शरीर।

चौंकि सो चट परयो पीरा परी दारुण जानि;
आय नयनन नीर खग पै लग्यो फेरन पानि।

पास ताके एक सेवक तुरत वोल्यो आय
"अबै मेरे कुँवर ने है हंस दियो गिराय।

गिरयो पाटल वीच विधि कै ठौर पै सो याहि।
मिलै मोको, प्रभो! मेरो कुँवर माँगत ताहि।"
वात ताकी सुनत वोल्यो तुरत राजकुमार
"जाय कै कहि देहु दैहौं नाहिँ काहु प्रकार।

मरत जो खग अवसि पावत ताहि मारनहार;
जियत है जब तासु तापै नाहिँ कछु अधिकार।
दियो मेरे वंधु ने वस तासु गति को मारि
रही जो इन श्वेत पंखन की उठावनहारि।"

देवदत्त कुमार वोल्यो "जियै वा मरि जाय,
होत पंछी तासु है जो देत वाहि गिराय।
नाहिं काहू को रह्यो जौ लौं रह्यो नभ माहिँ;
गिरि परयो तव भयो मेरो, देत हो क्यों नाहिँ?"

लियो तव खगकंठ को प्रभु निज कपोलन लाय
पुनि परम गंभीर स्वर सों कह्यो ताहि बुझाय
"उचित है यह नाहिँ जो कछु कहत हौ तुम बात,
गयो ह्वै यह विहग मेरो, नाहिँ दैहौं, तात!

जीव बहु अपनायहौं या भाँति या संसार
दया को औ प्रेम को निज करि प्रभुत्व प्रसार।
दयाधर्म सिखायहौं मैं मनुजगन को टेरि;
मूक खग पशु के हृदय की बात कहिहौं हेरि।

रोकिहौं भवताप की यह बढ़ति धार कराल
—परे जामें मनुज तें लै सकल जीव विहाल।
किंतु चाहै कुँवर तो चलि विज्ञजन के तीर
कहैं अपनी बात, चाहैं न्याय धरि जिय धीर।"

भयो अंत विचार नृप के सभामंडप माहिँ।
कोउ ऐसो कहत, कोऊ कहत ऐसो नाहिँ।
कह्यो याही बीच उठि अज्ञात पंडित एक
"प्राण है यदि वस्तु कोऊ करौ नैकु विवेक;

जीव पै है जीवरक्षक को सकल अधिकार,
स्वत्व वाको नाहिँ चाह्यो वधन जो करि वार।
वधक नासत औ मिटावत, रखत रच्छनहार;
हंस है सिद्धार्थ को यह, सोइ पावनहार"।

लग्यो सारी सभा को यह उचित न्याय-विधान।
भई मुनि की खोज, पै सो भए अंतर्द्धान।
व्याल रेंगत लख्यो सब तहँ और काहुहि नाहिं;
देवगण या रूप आवत कबहुँ भूतल माहिं।

दया के शुभ कार्य्य को आरंभ याहि प्रकार
कियो श्री भगवान ने लखि दुखी यह संसार।
छाँड़ि पीर विहंग की, उड़ि मिल्यो जो निज गोत,
और क्लेश न कुँवर जानत कहाँ कैसे होत।

कह्यो नृप एक वसंत के वासर "वत्स! चलौ पुर बाहर आज
जहाँ सुखमा सरसाति घनी, धरती अपनो धन खोलि अनाज
बिछावति काटनहार समीप; चलौ अपनो यह देखन राज
भरै नृप के नित कोपहिं जो, चलि आवत पालत लोकसमाज।"

चढ़े रथ पै दोउ जात चले, वन, बाग, तड़ाग लसैं चहुँ ओर।
लसे नव पल्लव सों लहरैं लहि कै तरु मंद समीर-झकोर।
कहूँ नव किंशुकजाल सों लाल लखात घने वनखंड के छोर।
परैं जहँ खेत सुनात तहाँ श्रमलीन किसानन को कल रोर।

लिपे खरिहानन में सुथरे पथपार पयार के दूह लखात।
मढ़े नव मंजुल मौरन सों सहकार न अंगन माहिं समात।
भरी छवि सो छलकाय रहे, मृदु सौरभ लै बगरावत वात।
चरैं बहु ढोर कछारन में जहँ गावत ग्वाल नचावत गात।

लदे कलियान औ फूलन सोँ कचनार रहे कहुँ डार नवाय ।
भरो जहँ नीर धरा रस भीजि कै दीनी है दूब की गोट चढ़ाय।
रह्यो कलगान विहंगन को अति मोद भरो चहुँ ओर सोँ आय।
कहूँ लघु जंतु अनेक, भगैं पुनि पास की झाड़िन को झहराय।

डोलत हैं वहु भृंग पतंग सरीसृप मंगल मोद मनाय ।
भागत झाड़िन सोँ कढ़ि तीतर पास कहूँ कछु आहट पाय ।
वागन के फल पै कहुँ कीर हैं भागत चोँच चलाय चलाय।
धावत हैं धरिवे हित कीटन चाष घनी चित चाह चढ़ाय ।

कूकि उठै कवहूँ कल कंठ सोँ कोकिल कानन में रस नाय।
गीध गिरैं छिति पै कछु देखत, चील रहीं नभ में मँड़राय।
श्यामल रेख धरे तन पै इत सोँ उत दौरि कै जाति गिलाय।
निर्मल ताल के तीर कहूँ वक वैठे हैं मीन पै ध्यान लगाय ।

चित्रित मंदिर पै चढ़ि मोर रह्यो निज चित्रित पंख दिखाय।
व्याह के वाजन वाजन की धुनि दूर के गाँव में देति सुनाय।
वस्तुन सोँ सव शांति समृद्धि रही वहु रूपन में दरसाय ।
देखि इतो सुख-साज कुमार रह्यो हिय में अति ही हरखाय ।

सूक्ष्म रूप सोँ पै वाने कीनो विचार जव
देखे जीवन कुसुम वीच कारे कंटक तव ।
कैसो दीन किसान पसीनो अपनो गारत ।
केवल जीयन हेतु कठिन श्रम करत न हारत।

पहुँच्यो वाही ठौर कुँवर जहँ ध्यान लगायो ।
पहर तीसरो चढ़यो ध्यान नहिं भंग भयो पर ।
अस्ताचल की ओर बढ़े भगवान् भास्कर ।
छाया घूमीं सकल; किंतु जामुन की छाहीं
रही एक दिशि अड़ी, टरी प्रभु पर तें नाहीं;
जामें प्रभु के पावन सिर पै परै न आई
रवि की तिरछी किरन, ताप प्रभु ओर बढ़ाई ।
लख्यो दूत यह चरित हिये अति अचरज मानी ।
जामुन की मंजरिन बीच फूटी यह बानी—
"रहिहै इनके हृदय ध्यान की छाया जौ लौं
नाहिं सरकिहै कतहुँ हमारी छाया तौ लौं ।"

द्वितीय सर्ग

राजा की चिंता

वर्ष अठारह पार भए भगवान् बुद्ध जब
तीन भवन बनिबे की आज्ञा नृपति दई तब—
बनै एक तो देवदार सोँ मढ़ो भव्य अति
शीतकाल मैँ होय शीत की नहिँ जामैँ गति ;
बनै श्वेत मर्मर को दूजो दमकत उज्वल,
ग्रीष्मकाल में बास-जोग सुथरो औ शीतल ;
लाल ईंट को बनै तीसरो भवन मनोहर,
पावस ऋतु के हेतु खिलैं चंपक जब सुंदर।
तीन हर्म्य ये–शुभ्र, रम्य तीजो सुरम्य पुनि–
राजकुमार निमित्त भए निर्मित तहँ चुनि चुनि।
तिनके चारों ओर खिले उपवन मन मोहत,
नारे घूमत बहत, विटप वीरुध बहु सोहत।
सघन हरियरी माहिँ लतामंडप बहु छाए,
जिनमैँ कबहूँ कुँवर जाय बैठत मन भाए।
नव प्रमोद आमोद ताहि बिलमावत छिन छिन;
पाय तरुण वय रहत सदा सुख सोँ बितवत दिन।

कबहुँ कबहुँ पै छाय जाति चिंता चित माहीं;
मानस-जल भँवराय पाय ज्यों बादर छाहीं।

देखि लच्छण ये महीपति कह्यो सचिव बुलाय—
"ध्यान है जो कहि गए ऋषि औ गणकगण आय ?
प्राण तें प्रिय पुत्र यह जग जीति करिहै राज ;
सकल अरिदल दलि कहैहै महाराजधिराज।

नाहिं तौ पुनि भटकिहै तप के कठिन पथ माहिं;
खोय सर्वस पायहै सो कहा जानैं नाहिं।
लखत तासु प्रवृत्ति हम या ओर ही अधिकाय
विज्ञ हौ तुम देहु मोकों मंत्र सोइ बताय

उच्च पथ पग धरै जासों कुँवर सजि सुख साज;
घटैं लच्छण सत्य सब, सो करै भूतल राज"।

रह्यो जो अति श्रेष्ठ बोल्यो वचन सीस नवाय
"प्रेम है सो वस्तु जो यह रोग देय छुड़ाय।
कुँवर के या परम भोरे हृदय पै, नरराय!
तियन के छल छंद को चट देहु जाल बिछाय।

रूप को रस कहा जानै अवै कुँवर अजान,
चपल चख चित मथनहारे, अधर सुधा समान।
देहु वाको कामिनी करि चतुर सहचर साथ ;
फेरि देखौ रंग अपने कुँवर को, हे नाथ!

लोह-सीकड़ सों नहीं जो भाव रोको जाय
कुटिल कामिनि-केश सों सो सहज जात बँधाय" ।

कह्यो नृप "यदि खोजि युवती करैं याको व्याह;
प्रेम की कछु परख औरै औ निराली चाह ।
यदि कहैं हम ताहि 'हे सुत! रूपउपवन जाय
लेहु चुनि सो कली जो सब भाँति तुम्हैं सुहाय'

परम भोरो बिहँसि कै सो बात दैहै टारि।
भागिहै आनंद सों जिहि सकत नहिं जिय धारि"

कह्यो दूसरो सचिव "नृपति यह समुझि लेहु मन,
तौ लौं कूदत है कुरंग जौ लौं शर खात न ।
कोउ मोहिहै अवसि ताहि जानौ यह निश्चय
काहू को मुख ताहि स्वर्ग सम लगिहैं सुखमय ।
रूप उषा सों उज्वल कोऊ लगिहै ताको,
आय जगावति जो प्रति दिन सारी वसुधा को ।
रचौ सात दिन में 'अशोक उत्सव', नृप! भारी
होयँ जहाँ एकत्र राज्य की सकल कुमारी ।
बाँटै कुँवर 'अशोक भांड' सबको प्रसन्न मन
रूप और गुन करतब तिनके निरखै नयनन ।
लै लै निज उपहार जान जब लगैं कुमारी,
छिपि कै देखत रहै तहाँ कोऊ नर नारी

काके ऊपर कुँवर आपनी दीठि गड़ावै,
काकी चितवन मिले उदासी मुख की जावै।
चुनें प्रेम के नयन प्रेयसी आपहि जाई।
रसबस करि कै कुँवरहिं हम यों सकत भुलाई।"
भली लगी यह बात, युक्ति सब के मन भाई।
तुरत राज्य में नरपति ने डौंड़ी फिरवाई—
"राजभवन में आवैं सुंदरि सकल कुमारी;
है 'अशोक उत्सव' की कीनी नृपति तयारी।
निज कर सों उपहार बाँटिहैं श्रीकुमार कढ़ि;
पैहैं वस्तु अमोल निकसिहैं जो सब सों बढ़ि।"

प्रेम

नृपद्वार कुमारि चलीं पुर की, अँगराग सुगंध उड़ै गहरी,
सजि भूषण अंबर रंग बिरंग, उमंगन सों मन माहिँ भरी।
कबरीन मैं मंजु प्रसून गुछे, दृगकोरन काजर-लीक परी,
सित भाल पै रोचनबिंदु लसै; पग जावक-रेख रची उछरी।

चलि कुँवर आसन पास सों मृदु मंद गति सों नागरी
हैं कढ़ति कारे दीर्घ नयन नवाय भोरी छवि भरी।
बढ़ि राजतेजहु सों कछू तहँ हेरि तें हहरैं हिये
जहँ लसत कुँवर विराग को मृदु भाव आनन पै लिये।

जो निकसै अति रूपवती, सब लोग सराहत जाहि दिखाय
सो चकि कै हरिनी सी खड़ी चट होय कुमार के सम्मुख आय—
दिव्य स्वरूप, महामुनि सो सब भाँति अलौकिक जो दरसाय—
लै अपनो उपहार मिलै पुनि कंपित-गात सखीन में जाय ।

पुर की कुमारी एक पै चलि एक यों पलटीं जबै,
टूट्यो छटा को तार औ उपहार हू बँटिगो सबै
ठाढ़ी भई तब आय कुँवर समीप दिव्य यशोधरा ।
अति चकित हेरत रहि गयो सो स्वर्ग की सी अप्सरा ।

मृदु आनन पै लखि इंदुप्रभा अरविंद सबै सकुचाय परे ।
शर हेरि प्रसून के नैनन में हरिनीन के नैनहु ना ठहरे ।
पुनि जोरि कुमार सों दीठि चितै मुसकान कछू अधरान धरे
"कछु पाय सकैं हमहूँ" यह पूछति भौंहन में कछु भाव भरे ।

सुनि कहत राजकुमार "अब उपहार तो सब बँटि गयो;
पै देत हौं जो नाहिं अब लौं और काहू को दयो" ।
चट काढ़ि मरकत माल वाके कंठ में नाई हरी;
तहँ नयन दोउन के मिले जिय प्रीति जासों जगि परी ।

———

बहुत दिनन में भए बुद्ध-पद-प्राप्त कुँवर जब
बिनती करि बहु लोग जाय तिनसों पूछ्यो तब

क्यों सहसा लखि गोपा को यों ढरयो तासु चित;
कह्यो बुद्ध "हम रहे परस्पर नाहिं अपरिचित।
बहुत जन्म की बात सुनौ जमुना के तट पर,
नंदादेवी को सोहत जहँ धवल शिखर वर,
एक अहेरी को कुमार मन मोद बढ़ाई।
बनकन्यन के संग रह्यो खेलत तहँ जाई।
बन्यो पंच सो; ताहि प्रथम चलि छुवन विचारी
देवदार तर दौरैं हरिनी सरिस कुमारी।
बनजूही सों देत काहु को भाल सजाई;
नीलकंठ के पंख काहु को देत लगाई;
औ गुंजा की माल काहु के गर में नावत;
काहू को चुनि देवदार के दल पहिरावत।
दौरी पाछे जो सबके सो आगे आई।
मृगछौना दै एक ताहि सों प्रीति लगाई।
सुख सों दोऊ रहे बहुत दिन लौं बन माहीं।
बँधे प्रीति में दोउ अभिन्न-मन मरे तहाँहीं।
देखो! जैसे बीज भूमि तर ढको रहत है,
फोरत अंकुर वर्षा की जब धार लहत है;
याही विधि सब कर्मबीज पहले के भाई—
राग द्वेष, सुख दुःख, भलाई और बुराई—
प्रगटत हैं पुनि जब कबहूँ ते अवसर पावैं;
औ मीठे वा कड़ुवे फल निज डारन लावैं।

सोइ अहेरी को कुमार मोकोँ तुम मानौ,
है यशोधरा सोइ चपल वनकन्या, जानौ।
जन्म मरण को चक्र भयो जौ लौँ नहिँ न्यारे,
आवन चाहै, रही बात जो बीच हमारे।"

रहे कुँवर को भाव लखत जो उत्सव माहीं
जाय सुनायो नृप को सब, कछु छाँड्यो नाहीं।
कैसे कुँवर विरक्त रह्यो बनि बैठो तौ लौँ
सुप्रबुद्ध की यशोधरा आई नहिं जौ लौँ।
पलट्यो कैसो रंग कुँवर को ज्यों सो आई;
निरखन दोऊ लगे परस्पर दीठि मिलाई।
रत्नहार दैवे की सारी बात गए कहि;
रहे प्रेम सोँ एक दूसरे को कैसे चहि।

शस्त्र-परीक्षा

बोल्यो भूपति विहँसि "वस्तु हमने सो पाई
रखि लैहै जो अवसि हमारो कुँवर फँसाई।
पठै दूत अब माँगौ सो कन्या सुकुमारी;
सुप्रबुद्ध सोँ कहौ जाय यह बात हमारी"।
रही रीति पै शाक्यगणन में जो न सकै टरि,
वड़े घरन की वरन चहै जो कन्या सुंदरि

शस्त्रकला में परै निपुणता ताहि दिखावन
तिन सब सोँ बढ़ि जो जा चाहैं ताको पावन ।
नृपगण हू विपरीत रीति नहिं सकैं चलाई ।
कह्यो कुँवरि को पिता "नृपति सोँ बोलौ जाई
दूर दूर के राजकुँवर हैं चाहत याको ;
सब सोँ जो बढ़ि सकै कुँवर तो देहौं ताको ।
अस्त्र शस्त्र हयचालन में यदि सो बढ़ि जैहै,
वासोँ बढ़ि कै और कहाँ वर कोऊ पैहै ?
पै देखत हौं ढीले ढंगन को वाके जब
कैसे आशा करौं होयहै वासोँ यह सब ?"

भयो भूप अति दुखी लग्यो सोचन मन माहीं—
"चहत कुँवर है यशोधरा को, संशय नाहीं ।
कौन धनुर्धर नागदत्त सोँ पै बढ़ि मरिहै ?
हय चालन में अर्जुन सम्मुख कौन ठहरिहै ?
खड्ग युद्ध में वीर नंद सोँ बढ़ि काको गति ?"
सोचि सोचि महिपाल भयो मन में उदास अति ।
देखि दशा यह बिहँसि कुँवर बोल्यो सुखकारी
"सुनौ तात ! ये सकल कला हैं सिखी हमारी ।
करौ घोषणा तुरत, भिड़ै मो सोँ जो चाहै
इन सब खेलन माहिं ; सोच की बात कहा है ?
नेह विफल करि कुँवरि हाथ सोँ जान न दैहौं ।

ऐसी छोटी वातन कारन ताहि गवैहौं ?"
भयो "घोष सिद्धार्थ कुँवर हैं करत निमंत्रित।
आय सातवें दिवस दिखावैं रणकौशल इत !
राजकुँवर सों जो चाहै सो होड़ लगावै;
जो जीतै सो यशोधरा को वरि लै जावै।"

रंगभूमि लखाति जाको दूर लौं विस्तार।
सातवें दिन आय पहुँचे सकल शाक्यकुमार।
कुँवरि को लै चली शिविका सजी नाना रंग।
चलीं मंगल गीत गावति सुंदरी बहु संग।

सुंदरी को वरन को अभिलाष मन में लाय
राजकुल को नागदत्त कुमार पहुँच्यो आय।
और आए नंद अर्जुन, दोउ परम कुलीन,
सकल युवकन के शिरोमणि समरकला-प्रवीन।

अंत कंथक नाम चपल तुरंग पै असवार,
लखि अपरिचित भीर जो हिहनात वारंवार,
आय पहुँच्यो चट तहाँ सिद्धार्थ राजकुमार
चकित चख सों प्रजागण दिशि लखत, करत विचार—

भूपतिन सों भिन्न इनको खान पान निवास,
दुःख सुख मैं करत एक समान रोदन हास।

अंत मंजु यशोधरा की ओर हेरि कुमार
विहँसि खैंची पाट की बगडोर सहित सँभार,

कूदि कंथक पीठ तें आयो अवनि पै फेरि,
भुज उठाय विशाल या विधि कह्यो सब को टेरि—
"योग्य नहिं या रत्न के जो योग्य सब सौं नाहिं;
आय ठाढ़ो हौं वरन की चाह धरि मन माहिं।

कियो अनुचित आज साहस व्यर्थ हम यह धाय
सिद्ध याको करैं अब प्रतिपक्षिगण सब आय।"
धनुर्विद्या की परीक्षा हित प्रचारयो नंद।
जाय राख्यो लक्ष्य पट् गो दूर पै सानंद।

वीर अर्जुन ने धरयो निज लक्ष्य पट् गो दूर;
नागदत्त सगर्व बढ़िगो आठ गो भरपूर।
पै कुँवर सिद्धार्थ ने आदेश दियो सुनाय—
'धरो मेरो लक्ष्य दस गो दूर ह्याँ ते जाय।'

गयो एती दूर पै धरि लक्ष्य सो जब जाय
दर्शकन को एक कौड़ी सो परयो दरसाय।
खैंचि शर तब छाँड़ि बेध्यो लक्ष्य नंद सँभारि।
वीर अर्जुन हू निसानो लियो अपनो मारि।

नागदत्त अचूक शर सौं लक्ष्य कीनो पार।

चकित जनसमुदाय कीनी 'धन्य धन्य' पुकार ।
पै कुमारि यशोधरा यह लखि लियो मन मारि,
चकित नयनन पै लियो निज ऐंचि अंचल डारि

लखै जामें नाहिं सो तिन लोचनन सों और
विफल अपने कुँवर को शर होत कहुँ तिहि ठौर ।
जाय तिनको धनुष लीनो हाथ राजकुमार,
कसी जामें ताँत, चाँदी को वँध्यो दृढ़ तार,

सकत जाको तानि आँगुर चार सोई वीर
जासु बाहु विशाल में अति होय बल गंभीर ।
विहँसि तीर चढ़ाय खैंची डोर कुँवर प्रवीन ।
मिलीं धनु की कोटि दोउ औ मूठ करकी पीन ।

दियो यों कहि फेंकि वाको दूर कुँवर उठाय—
"खेलिवे को धनुष यह तो दियो मोहिं थमाय ।
प्रेम परखन योग्य नाहिँ यह, लखत सकल समाज ।
शाक्य-अधिपति योग्य धनुष न कहा कोउ पै आज ?"

एक बोल्यो "सिंहहनु को धनुष है पृथु एक,
धरो मंदिर माहिं कब सों कोउ न जानत नेक,
सकत नाहिं चढ़ाय जाकी कोउ पतिंचा तानि,
जो चढ़ै तो सकत वाको नाहिं कोउ संधानि"।

"बेगि लाओ ताहि" बोल्यो कुँवर तब हरषाय।
लोग लाए जाय सो प्राचीन धनुष उठाय,
वज्र-निर्मित, कनकबेलिन-खचित, अति गुरुभार।
चापि घुटनन पै लियो बल आँकि तासु कुमार।

कह्यो पुनि "लै याहि बेधौ लक्ष्य तो टुक जाय"।
पै सक्यो लै ताहि कोऊ नेकु नाहिँ नवाय।
कुँवर उठि तब सहज झुकि कोदंड दियो लचाय,
डोर की लै फाँस दोनों कोटि बीच चढ़ाय,

शिंजिनी पुनि खैंचि कीनी अति कठिन टंकार।
भयो कंपित पवन, पूर्यो घोर रव पुर पार।
हहरि निर्बल लोग पूछ्यो "शब्द यह किहि ओर?"
कह्यो सब "यह सिंहहनु के धनुष को रव घोर

है चढ़ायो जाहि अबहीं भूप को सुत धीर;
जात है अब लक्ष्य बेधन; लगी है अति भीर"।
साधि शर संधानि छाँड़्यो जबै राजकुमार
पवन चीरत चल्यो, कीनो भेदि लक्ष्यहि पार।

थम्यो नहिं शर गयो सनसन बढ़त आगे दूर
दृष्टि काहू की नहीं पहुँची जहाँ भरपूर।

नागदत्त पुनि खड्ग चलावन की ठहराई।
तालद्रुम दस आँगुर मोटो दियो गिराई।

अर्जुन खंड्यो द्वादश आँगुर मोटो तरु जब
पंद्रह आँगुर विटप छिन्न करि दियो नंद तब ।
रहे तहाँ द्वै विटप खड़े ऐसे जुरि संगहि ;
चमकायो करवाल कुँवर कर में अपने गहि ।
दोऊ यों बेलाग उड़े एकहि प्रहार लहि
ज्यों के त्यों ते खड़े जहाँ के तहाँ गए रहि ।
हरषि पुकारयो नंद "धार बहँकी कुमार की" ।
काँपी मन में कुँवरि देखि यह बात हार की ।
मरुत देव यह चरित रहे अवलोकत वा छन ।
दक्षिण दिशि सों प्रेरि वहायो मंद समीरन ।
हरे भरे ते ऊँचे दोऊ ताल मनोहर
तुरत गिरे अरराय आय नीचे धरती पर ।

फेरि तीखे तुरग चारों ने बढ़ाए जोर;
तीन फेरो कियो वा मैदान के सब ओर ।
गयो कंथक दूर बढ़ि पाछे सबन को नाय ।
वेग ऐसो तासु जौ लौं फेन मुहँ सों आय

गिरै धरती पै, उड़ै सो बीस लट्ठ प्रमान ।
नंद बोल्यो "हमहुँ जीतैं पाय अश्व समान ।
बिना फेरो तुरग कोऊ छोरि लायो जाय,
फेरि देखौ कौन वाको सकै वश में लाय"

सीकड़न सोँ बँधे। लाए एक अश्व विशाल,
जो निशीथ समान कारो, नयन जासु कराल,
झारि केसर रह्यो जो फरकाय नथुने दोउ,
पीठ सोँ नहिं जासु कबहूँ लगन पायो कोउ।

चढ़ूयो वापै नंद कैसहु गयो सो जब छौंकि,
दोउ पग सों भयो ठाढ़ो दियो वाको फेंकि।
रह्यो अर्जुन ही जम्यो कछु काल आसन मारि;
दियो चाबुक पीठ पै कसि बाग को झटकारि।

रोप औ भय सोँ भड़कि भाग्यो तुरग झुकि भूमि,
बहँकि कै फेरो लगायो खेत में वा घूमि।
किंतु खीस निकासि सहसा फिरयो काँधी मारि,
एड़ सोँ अर्जुन दबायो, दियो ताको डारि।

अश्वपाल अनेक एते माहिं पहुँचे आय;
बाँधि लीनो वाहि तुरतै लोह-सीकड़ नाय।
कह्यो सब "या भूत ढिग नहिँ उचित कुँवरहिँ जान,
हृदय आँधी सरिस जाको रुधिर अनल समान।"

कह्यो किंतु कुमार "खोलौ अबै सीकड़ जाय;
देहु केसर तासु मेरे हाथ नेकु थमाय"।
थामि केसर कुँवर पुनि कछु मंद शब्द उचारि
दियो माथे पैं तुरग के दाहिनो कर धारि।

कंठ को गहि पानि फेरयो पीठ लौं लै जाय।
चकित भे सब लोग लखि जब अश्व सीस नवाय
भयो ठाढ़ो सहमि कै चुपचाप तहँ बस मानि ;
मनो वंदन करन लाग्यो परम प्रभु पहिचानि।

नाहिं डोल्यो हिल्यो जा छन कुँवर भो असवार
चल्यो सीधे एड़ औ बगडोर के अनुसार।
उठे लोग पुकारि "बस, अब ! इन कुमारन माहिं
है कुँवर सिद्धार्थ सब सों श्रेष्ठ संशय नाहिं"।

विवाह

सुप्रबुद्ध अति ह्वै प्रसन्न लखि कौतुक सारे
बोले "तुम, हे कुँवर! रहे हम सब को प्यारे।
सब सों बढ़ि तुम कढ़ौ रही यह चाह हमारी।
कौन शक्ति लहि कियो आज यह अचरज भारी ?
कहत सबै तुम रहत रंग में भूले अपने,
फूलन पै फैलाय पाँव देखत हौ सपने।
यह अद्भुत पुरुषार्थ कहाँ तें तुम में आयो
तिनसों बढ़ि जो अपनो सारो समय बितायो
रणखेतन के बीच और आखेटबनन में,
सकल जगत् के व्यवहारन में कुशल जनन में ?

पिता को निदेश पाय सुंदरी कुमारी उठी,
लीने जयमाल दोऊ हाथ में सजाय कै।
कंचनकलित पाटसारी खैंचि आनन पै,
घूँघट बढ़ाय चली मंद पग नाय कै।
डोलति समाज बीच पहुँची ता ठौर जहाँ,
सोहत सिद्धार्थ छटा दिव्य छहराय कै।
ठाढ़ो है समीप जाके अश्व चुपचाप सब
चौकड़ी भुलाय, कारे कंठहिँ नवाय कै।

कुँवर के पास जाय आनन उघारयो वाने
जापै अनुराग के उमंग की प्रभा छई।
कंठ बीच डारी जयमाल झुकि छुयो पद,
पुलकित गात बोली भाव सोँ भरी भई।
"फेरौ मेरी ओर दीठि नेकु तो, कुमार प्यारे!
मैं तो सब भाँति सोँ तिहारी आज ह्वै गई"।
प्रमुदित लोग भए देखि उन दोउन को
जात कर बीच कर धारे प्रीति सोँ नई॥

———

बहुत दिनन में भए बुद्ध सिद्धार्थ कुँवर जब
विनती करि यह मर्म जाय तिनसोँ बूझ्यो सब—
कनकखचित सो चित्रित सारी क्यों कुमारि धरि
चली हृदय में गर्व और अनुराग इतो भरि?

बोले जगदाराध्य "विदित तब पूरो नाहीं
रह्यो हमैं यह, रही धारणा कछु मन माहीं।
जन्म मरण को चक्र रहत है नाहिँ कबहुँ थिर;
विगत वस्तु औ भाव, भूत जीवन प्रगटत फिर।
आवति अब सुध मोहिं वर्ष बीते हैं लाखन
रह्यों बाघ मैं हिमगिरि के इक विपिन बीच घन।
क्षुधित स्ववर्गिन संग फिरौँ मैं बन बन धावत।
कुश के झापस बीच बैठि नित घात लगावत
गैयन पै तिन जे कारे दृग चौंकि उठावैं,
मृत्यु निकट जो चरत चरत चलि आपहि आवैं।
कबहुँ तारकित गगन तरे खोजौँ भख उत इत;
सूँघत घूमौँ पंथ मनुज-मृग-गंध लहन हित।
संगी मेरे मिलैं मोहिं जो वन के भीतर
अथवा निचुलन सोँ छाए मृदु सरित पुलिन पर
तिनमें बाघिनि एक वर्ग में सब सोँ सुंदरि;
ताहि लहन हित बन के सारे बाघ गए लरि।
चामीकर सो चर्म तासु जापै बहु धारी;
—कछु वैसोई जैसी गोपा की सो सारी।
भयो युद्ध घमसान दंत नख सोँ वा वन में;
घावन सोँ बहि चल्यो रक्त तब सबके तन मैं।
खड़ी नीम तर सुंदरि बाघिनि सो सब निरखति
विकट प्रणय हित जासु मच्यो सो क्रूर कांड अति।

बड़ी चाह सोँ आई कूदति मेरे नेरे;
रुचि सोँ लागी चाटन हाँफत तन को मेरे।
चली संग लै मोहिँ गर्व सोँ सो पुनि गरजति
तिन सब बाघन बीच कढ़ति जिनको मारयोँ हति।
योँ मेरे सँग प्रेमगर्व सोँ वनहिं सिधाई।
जन्म मरण को चक्र रहत घूमत योँ, भाई!

या भाँति सुंदरि कुँवरि को लहि कुँवर मन आनँद छयो।
शुभ लग्न उत्तम धरि गई जब मेष को दिनकर भयो।
सब व्याह के सुप्रबुद्ध के घर साज बाज रचे गए।
छायो गयो मंडप कलित, तोरण रुचिर बँधिगे नए।

अब द्वार पै सब होत मंगलचार नाना भाँति हैं।
दरसाति भीर अपार औ गज बाजि की बहु पाँति हैं।
लै खील फेँकति हैं अटारिन पै चढ़ी पुर नागरी,
कल कंठ सोँ जिनके कढ़ै धुनि परम कोमल रस भरी।

मन मुदित वर कन्या वरासन पै विराजत आय हैं।
मधुपर्क, कंगन आदि की सब रीति जाति पुराय हैं।
औ ग्रंथिबंधन भाँवरी के होत पूर्ण विधान हैं।
ऋषि मंत्र बैठे पढ़त हैं, सब विप्र पावत दान हैं।

जब ह्वै गई सब रीति कन्या को पिता तब आय कै
भरि नीर नयनन में कह्यो "हे कुँवर ! हित चित लायकै
टुक राखियो यापै दया जो अब तिहारी है भई" ।
दुलहिन विदा ह्वै अंत सज्जित राजमंदिर मैं गई ।

रंगभवन विहार

रहत प्रेमहिं प्रेम छायो नवल दंपति माहिँ ।
प्रेम ही पै पै भरोसो कियो भूपति नाहिं ।
दई आज्ञा रचन की इक प्रेम-कारागार
अति मनोहर दिव्य औ रमणीय रुचिर अपार ।

कुँवर को विश्रामभवन सो बन्यो अति अभिराम ।
नाहिं वसुधा बीच और विचित्र वैसो धाम ।
हर्म्य सीमा बीच सोहत हरो भरो पहार;
बहति जाके तरे निर्मल रोहिणी की धार ।

उतरि कलकल सहित सरि हिमशैल-तट सोँ आय
जाति है निज भेंट गंगतरंग दिशि लै धाय ।
लसत दक्षिण ओर हैं वट सघन, साल, रसाल
झपसि जिनपै रह्यो कुसुमित मालती को जाल ।

धाम को वा रहत न्यारे किए ते बिलगाय
जगत् सोँ सब जहाँ एती हाय हाय सुनाय।
कबहुँ आवत नगर-कलकल करत सीमा पार;
दूर सोँ पै लगत प्रिय सो ज्यों भ्रमरगुंजार।

खड़ो उत्तर ओर हिमगिरि को अमल प्राकार
नील नभ के बीच निखरो धवल मालाकार।
विदित वसुधा बीच जो अद्भुत अगम्य अपार;
जासु विपुल अधित्यका औ उठे विकट कगार,

शृंग तुंग तुषार मंडित, वक्ष विशद विशाल,
लहलहे अति ढार औ बहु दरी, खोह कराल
जात मानव ध्यान लै ऊँचे चढ़ाय चढ़ाय
अमर धाम तकाय राखत सुरन बीच रमाय ।

निर्भरन सोँ खचित औ बन-आवरण सोँ छाय
श्वेत हिम तर रही काननराजि कहुँ लहराय।
परत नीचे चीड़, अर्जुन, देवदार अपार।
गरज चीतन की परै सुनि, करिन को चिकार।

कहुँ चटानन पैं चढ़े वनमेंप हैं मिमियात।
मारि कै किलकार ऊपर गरुड़ हैं मँड़रात।
और नीचे हरो पटपर दूर लौं दरसाय,
देववेदिन तर बिछायो मनौ आसन लाय ।

सोधि इनके सामने समथल पहाड़ी एक
स्थापकन मिलि दिव्य मंडप खड़े किए अनेक ।
उठत ऊँचे धौरहर नहिँ नेकु लागी वेर ।
औ प्रशस्त अलिंद सुन्दर खिंचि गए चौफेर ।

खचित चकरी धरन पै हैं चरित वहु प्राचीन ।
कतहुँ राधाकृष्ण विहरत गोपिकन में लीन ।
द्रौपदी को चीर खैंचत कहुँ दुशासन राय ।
कहुँ रहे हनुमान सिय सोँ पिय सँदेस सुनाय ।

मुख्य तोरणद्वार ऊपर वक्र तुंडहिँ साजि
रहे वैभव वुद्धिदायक श्रीगणेश विराजि ।
जाय प्रांगण और उपवन वीच पथ के पार
विमल बादर* को मिलै इक और भीतर द्वार ।

लसत मर्मर चौखटे पर नील प्रस्तर भार ।
लगे चंदन के सुचित्रित अति विचित्र किवार ।
मिलैं आगे वृहत् मंडप, कुंज शीतल धाम ।
बनीं सीढ़ी, गली, जाली कटीँ अति अभिराम ।

खड़े अगणित खंभ, चित्रित छत रही छवि छाय ।
फटिक कुंडन सोँ फुहारे छुटत झरी लगाय ।

---

* एक प्रकार का संगमर्मर जिस पर वादल की सी धारियाँ पड़ी होती हैं ।

लसत इंदीवर तथा अरविंदजाल-प्रसार,
हरित, रक्त, सुवर्णमय जहँ मीन करत विहार।

कहुँ अनेक विशालदृग मृग वसि निकुंजन माहिं
टूँगत पाटल के कुसुमदल, करत कछु भय नाहिं।
कतहुँ ऊँचे ताड़ ऊपर फरफरात विहंग,
इंद्रधनु सम पंख जिनके दिव्य रंग विरंग।

नील धूम कपोत खञ्जन तर सुनहरे जाय
अति सुरक्षित सुघर अपने नीड़ लिए वनाय ।
शुचि खड़ंजन पै फिरैं कहुँ मोर पूँछ पसारि।
वैठि उज्वल छीर सम वक रहे तिन्हैं निहारि।

एक फल सोँ दूसरे पै जाय झूलत कीर।
फिरैं मुनियाँ चुहचुहाती खिले फूलन तीर।
शान्ति औ सुख सोँ वसैं सव जीव मिलि वा धाम।
लेति जाली वीच निर्भय छिपकिली वसि घाम ।

हाथ सोँ लै जाति भोजन गिलहरी झटकारि।
केतकी तर वसत कारो नाग फेंटी मारि।
कतहुँ वसि कस्तूरिमृग हैं करत विविध विहार।
वायसन की वोल पै कपि करत कहुँ किलकार ।

रहत सुन्दरि सहचरिन सोँ भरो सो रसधाम।
लसति सुखमा वीच आनन की छटा अभिराम।

वोलि मधुरे वैन सेवा में रहैं सव लीन;
सजैं सुख के साज छन छन सुरुचि सहित नवीन।

कुँवर को सुख लखि सुखी ते, मुदित मोद निहारि।
गर्व बस आदेश-पालन को सकैं जिय धारि।
विविध सुख के बीच जीवन यों बिहात लखाय
पुष्पहास विलास के विच रमति ज्यों सरि जाय।

सोहनी सी रहति मायाभवन में वा छाय;
रहत भूलो मन, परत दिन राति नाहिं जनाय।

लसत गुप्तगृह इन भवनन के भीतर जाई,
मनमोहन हित शिल्प जहाँ सव शक्ति लगाई।
प्रांगण विस्तृत परत प्रथम मर्मर को सुन्दर
ऊपर नीलो गगन, मध्य में लसत विमल सर।
मर्मर के सोपान सुभग चारो दिशि सोहत।
पच्चीकारी रंग रंग की लखि मन मोहत।
जहाँ ग्रीष्म में जातहि ऐसो ताप जात हरि
पसरे निर्मल ज्यों तुषार पै पाँव रहे परि।
नित्य गवाच्छन सों ह्वै कै मृदु रविकर आवैं;
ढारि स्वर्ण की धार रुचिर आभा फैलावैं।
जव वा रुचिर विलासभवन के भीतर आवै
प्रखर दिवस हू प्रेम छाकि संध्या ह्वै जावै।

रंगभवन सो परत द्वार के भीतर सुन्दर,
सकल जगत् के अचरज को आगार मनोहर ।
अगरवटित दीपक सुगंधमय वरत सुहावै,
जासु अमल मृदु ज्योति झरोखन सोँ कढ़ि आवै ।
तनी चाँदनी के बूटे चमकैं मनभावन
परे कनक-पर्यङ्क बीच गुलगुले बिछावन ।
कनक-कलित पट सुन्दर द्वारन पै लटकाए,
सुमुखिन भीतर लेन हेतु जो जात उठाए ।
उज्वलता, मृदुता प्रभात संध्या की सब छिन
छाई तहँ लखि परति, जानि नहिं जात राति दिन ।

लगे रहत पकवान विविध, नित कढ़ति वीन धुनि ।
कंद मूल फल धरे रहत डलियन में चुनि चुनि ।
हिम सोँ शीतल किए मधुर रस धरे सजाई ।
कठिन युक्ति सोँ बनी रसीली सजीं मिठाई ।

नित रहति सेवा में लगी तहँ सहचरी बहु कामिनी,
सुकुमारि कारी भौंहवारी, काम की सहगामिनी ।
जब नींद में झपि नयन लागत कुँवर के अलसाय कै,
नियराय वीजन करति कोमल कर-सरोज हिलाय कै ।

जगि जात जब पुनि तासु मनहिं रिझाय कै बिलमावतीं ।
मुसुकाय, रस के गीत मधुरे गाय नाच दिखावतीं ।



झनकाय घुँघुरू बैठि बाहु उठाय भाव बतावतीं।
वीणा मृदंग उठाय कोउ चुपचाप साज मिलावतीं।

नित अगर, धूप, कपूर सों उठि धूम छावत है घनो
बगराय केशकलाप बासति कामिनी तहँ आपनो
मृदु अंग लाय उशीर चन्दन, उत्तरीय सजाय कै,
रसबस कुमार यशोधरा के संग बैठत आय कै।

जरा, मरण, दुख, रोग, क्लेश को वा थल माहीं
कोऊ कबहूँ नाम लेन पावत है नाहीं।
यदि कोऊ वा रस-समाज में होय खिन्न मन,
परै नृत्य में मंद चरण वा धीमी चितवन
तुरतहि सो वा स्वर्गधाम सों जाय निकारी,
जासों दुख लखि तासु न होवै कुँवर दुखारी।
नियत नारि बहु दंड देन हित तिनको हेरी
जो कोउ चर्चा करै कतहुँ दुखमय जग केरी,
जहाँ रोग, भय, शोक और पीड़ा हैं छाई,
बहु विलाप सुनि परत चिता दहकति धुधुआई।
गनो जात अपराध नर्त्तकिन को यह भारी
वेणीबंधन छूटि परै जो केश बिगारी।
नित उठि तोरे जात कुसुम कुम्हिलाने सारे;
औ सब सूखे पात जात करि चुनि चुनि न्यारे।

या प्रकार सब बुरे दृश्य नित जात दुराए।
बार बार यों कहत भूप मन आस बँधाए—
"तिन बातन सों दूर कुँवर यदि युवा बितावैं
उदासीनता मानुस के मन में जो लावैं,
कर्मरेख की खोटी छाया अवसिहि टरिहै,
राजश्री धरि सकल भूमि सो शासन करिहै;
ताहि देखिहौं सकल भूपतिन सों मैं भारी
छावत अपनी विमल कीर्त्ति बसुधा में सारी।
प्रेम पाहरू जहाँ, भोग के बंधन भारी,
तिन सुख-कारागारन के चहुँ ओर अगारी
उठवाई नृप ऊँची चकरी चारदिवारी
जामें फाटक लग्यो एक पीतर को भारी।
मनुज पचासक लगैं सकैं तो ताहि फिराई;
आधे योजन शब्द खुलन को परै सुनाई।
ताके भीतर और लगे फाटक द्वै दृढ़तर।
लाँघै तीनौं द्वार होय तब कोऊ बाहर।
बेड़े सीकल लगे फाटकन माँहि भिड़ाई।
एक एक पै गई कड़ी चौकी बैठाई।
कह्यो रच्छकन सों "नृप हम आदेश देत अब;
ह्वै है जो प्रतिकूल प्राण खोवौगे तुम सब।
देखौ कोऊ फाटक बाहर होन न पावै
चाहै होवै कुँवर, सोउ नहिं कहुँ कढ़ि जावै

तृतीय सर्ग

वसत बुद्ध भगवान् सरस सुखमय थल माहीं।
जरा, मरण, दुख, रोग क्लेश कछु जानत नाहीं।
कबहुँ कबहुँ आभास मात्र इनको सो पावत;
जैसे सुख की नींद कोउ जो सोवत आवत
कबहुँ कबहुँ सो स्वप्न माहिं छानत है सागर,
लहत कूल जगि, भार लादि कछु अपने मन पर।
कबहूँ ऐसो होत रहत सोयो कुमारवर
सिर धरि प्यारी यशोधरा के विमल वत्त पर;
मृदु कर मंद डुलाय करति सो मुख पै बीजन
उठत चौंकि चिल्लाय "जगत् मम! हे व्याकुल जन!
जानत हौं, हौं सुनत सबै, पहुँच्यौं मैं, भाई!"
मुख पै ताके दिव्य ज्योति तब परति लखाई,
करुणा की मृदु छाया पुनि दरसति तहँ छाई।
अति सशंकदृग यशोधरा पूछै अकुलाई
"कौन कष्ट है प्राणनाथ! कछु जात न जानो"।
परै कुँवर उठि, लखै प्रिया को मुख कुम्हिलानो।
आँसु सुखावन हेतु तासु पुनि लागै विहँसन
वीणा को सुर छेड़न को देवै अनुशासन।

धरी रही खिरकी पै वीणा एक उतानी ;
परसि प्रभंजन ताहि करत क्रीड़ा मनमानी ।
तारन को झननाय निकासत अति अटपट धुनि ;
रहे पास जो तिनको केवल परी सोइ सुनि ।
किंतु कुँवर सिद्धार्थ सुन्यो देवन को गावत ।
तिनके ये सब गीत कान में परे यथावत—

हम हैं वाहि पवन की बानी जो इत उत नित धावै ;
हा हा करति विराम हेतु पै कतहुँ विराम न पावै ।
जैसो पवन गुनौ वैसोई जीवन प्राणिन केरो ;
हाहाकार उसासन को है झंझावात घनेरो ।

आए हौ किहि हेतु कहाँ ते परत न तुम्हैं जनाई,
प्रगटत है यह जीवन कित तें और जात कह धाई ।
जैसे तुम तैसे हम सब हू जीव शून्य सों आवैं ।
इन परिवर्तनमय क्लेशन में सुख हम कछू न पावैं ।

औ परिवर्तन-रहित भोग में तुमहूँ को सुख नाहीं ।
यदि होती थिर प्रीति कछू सुख कहते हम ता माहीं ।
पै जीवनगति और पवनगति एकहि सी हम पावैं ।
हैं सब वस्तु क्षणिक स्वर सम जो तारन सों छिड़ि आवैं ।

हे मायासुत! छानत घूमैं हम वसुधा यह सारी ;
यातें हम इन तारन पै हैं रहे उसास निकारी ।

देश देश में केती बाधा विपति विलोकत आवैं ।
केते कर मलि मलि पछितावैं, नयनन नीर बहावैं ।

पै उपहास-जनक ही केवल लगै विलाप हमारो ।
जीवन को ते अति प्रिय मानैं जो असार है सारो ।
यह दुख हरिबो मनौ टिकैबो घन तर्जनि दिखराई;
अथवा वहति अपार धार को गहिबो कर फैलाई ।

पै तुम त्राण हेतु हौ आए, कारज़ तव नियरानो ।
विकल जगत है जोहत तुमको त्रिविध ताप में सानो ।
भरमत हैं भवचक्र बीच जड़ अंध जीव ये सारे ।
उठौ, उठौ, मायासुत ! बनिहै नाहिं बिना उद्धारे ।

हम हैं वाहि पवन की बानी जो कबहूँ थिर नाहीं ।
घूमौ तुमहुँ, कुँवर ! खोजन हित निज विराम जग माहीं ।
छाँड़ौ प्रेमजाल प्रेमिन हित, दुख मन में अब लाओ ।
वैभव तजौ, विषाद विलोकौ औ निस्तार बताओ ।

भरि उसास इन तारन पै हम तव समीप दुख रोवैं ।
अब लौं तुम नहिं जानत जग में केतो दुख सब ढोवैं ।
लखि तुमको उपहास करत हम जात; गुनौ चित लाई
धोखे की यह छाया है तुम जामें रहे भुलाई ।

ता पाछे भइ साँझ, कुँवर बैठ्यो आसन पर
रस-समाज के बीच धरे प्रिय गोपा को कर ।

गोधूली की वेला काटन के हित ता छन
लागी दासी एक कहानी कहन पुरातन;
जामें चर्चा प्रेम और उड़ते तुरंग की,
तथा दूर देशन की बातें रंग रंग की,
जहाँ बसत हैं पीत वर्ण के लोग लुगाई,
रजनीमुख लखि सिंधु माहिं रवि रहत समाई।
कहत कुँवर "हे चित्रे! तू सब कथा सुनाई
फेरि पवन के गीत आज मेरे मन लाई।
देहु, प्रिये! तुम याको मुक्ताहार उतारी।
अहह! परी है एती विस्तृत वसुधा भारी!
ह्वैहैं ऐसे देश जहाँ रवि बूड़त है नित।
ह्वैहैं कोटिन जीव और जैसे हम सब इत।
सुखी न या संसार बीच ह्वैहैं बहुतेरे,
कछु सहाय करि सकैं तिन्हैं यदि पावैं हेरे।
कबहुँ कबहुँ हौं निरखत ही रहि जात प्रभाकर
कढ़ि पूरब सों बढ़त जबै सो स्वर्णमार्ग पर।
सोचौं मैं वे कैसे हैं उदयाचल प्रानी
प्रथम करैं जो ताके किरनन की अगवानी।
अंक बीच बसि कबहुँ कबहुँ, हे प्रिये! तिहारे
अस्त होत रवि ओर रहौं निरखत मन मारे।
अरुण प्रतीची ओर जान हित छटपटात मन;
सोचौं कैसे अस्ताचल के बसनहार जन।

ह्वैहैं जग में परे न जाने केते प्रानी
हमैं चाहिए प्रेम करन जिनसों हित ठानी।
परति व्यथा मोहिं जानि आज ऐसी कछु भारी
सकत न तव मृदु अधर जाहि चुंबन सों टारी।
चित्रे! तूने बहु देशन की बात सुनाई,
उड़नहार वे अश्व कहाँ यह देहि बताई।
देहु भवन यह, पावौं जो तुरंग सो बाँको
घूमत तापै फिरौं लखौं विस्तार धरा को।
इन गरुड़न को राज कहूँ मोसों है भारी
उड़त फिरत जो सदा गगन में पंख पसारी।
मनमानो नित जहाँ चहैं ते घूमैं धामैं।
यदि मेरे हू पंख कहूँ वैसे ही जामैं!
उड़ि उड़ि छानौं हिमगिरि के वे शिखर उच्च तर;
बसौं जहाँ रविकिरन-ललाई लसति तुहिन पर।
बैठो बैठो तहाँ लखौं मैं वसुधा सारी,
अपने चारों ओर दूर लौं दीठि पसारी।
अबलौं क्यों नहिं कढ्यों देश देखन हित सारे?
फाटक बाहर कहा कहा है परत हमारे ?"

उत्तर दीनो एक "प्रथम नगरी तव भारी;
ऊँचे मन्दिर, बाग और आमन की बारी।

आगे तिनके परैं खेत सुंदर औ समथल,
पुनि नारे, मैदान तथा कोसन के जङ्गल ।
ताके आगे विंवसार को राज, कुँवरवर !
है अपार यह धरा वसत जामें कोटिन नर ।"
कह्यो कुँवर "है ठीक! कहौ छंदकहिं बुलाई,
लावै रथ सो जोति कालि, देखौं पुर जाई ।"

उद्बोधन

जाय दूत तव बात कही नृप सों यह सारी—
"महाराज! है तव कुमार की इच्छा भारी,
बाहर के प्राणिन को देखै, मन बहलावै ।
कहत कालि मध्याह्न समय रथ जोतो जावै ।"

बोल्यो भूप विचारत, "हाँ! अब तो है अवसर ;
किंतु फिरै यह डौंड़ी सारे आज नगर भर,
हाट बाट सब सजैं, रहै ना कछू अरुचिकर
अंध, पंगु, कृश, जराजीर्ण जन कढ़ैं न बाहर ।"

जात मार्ग सब झारि और छिरको जल छन छन ।
धरैं कुल-बधू दधि, दूर्वा, रोचन निज द्वारन ।
घर घर वंदनवार बँधे; लहि रंग सजीले
भीतिन पर के चित्र लगत चटकीले गीले ।

पेड़न पै फहरात केतु नाना रँगवारे।
भयो रुचिर श्रृंगार मंदिरन में है सारे।
सूर्य्य आदि देवन की प्रतिमा गईं सँवारी।
अमरावति सी होय रही नगरी सो सारी।
घोषक डौंड़ी पीटि कह्यो चारौ दिशि टेरी
"सुनौ सकल पुरवासी! यह आज्ञा नृप केरी—
आज अमंगल दृश्य न कोऊ सम्मुख आवैं;
अंध, पंगु, कृश, जराजीर्ण ना निकसन पावैं।
दाह हेतु शव कोउ न काढ़ै निशि लौं बाहर।
है निदेश यह महाराज को, सुनैं सकल नर।"

गृह सँवारे सकल, शोभा नगर बीच अपार।
बैठि चित्रित चारु रथ पै कढ़यो राजकुमार।
चपल धवल तुरंग की जोड़ी नधी दरसाय।
रह्यो मंडप झलकि रथ को प्रखर रविकर पाय।

बनै देखत ही सकल पुरजनन को उल्लास,
करैं अभिवादन कुँवर को आय ते जब पास।
भयो प्रमुदित कुँवर लखि सो नरसमूह अपार।
हँसत यों सब लोग जीवन है मनौ सुखसार।

कुँवर बोल्यो "मोहिं चाहत लोग सबै लखात
होत जीव सुशील ये जो नृप कहे नहिँ जात।

मगन हैं भगिनी हमारी लगीं उद्यम माहिँ।
कियो इनको कौन हित हम नेकु जानत नाहिँ।

लखौ, वालक रह्यो यह मो पै सुमन वगराय;
लेहु रथ पै याहि मेरे संग क्यों न विठाय?
अहा! कैसो सुखद है सव भाँति करिवो राज,
पाय ऐसो देश सुंदर और लोक-समाज।

और है आनंद कैसी सहज सी इक वात,
मग्न जो आनंद में वस मोहिँ लखि ये भ्रात।
वहुत सी हैं वस्तु ऐसी हमैं चहिए नाहिँ
पाय तिनको होयँ जो ये तुष्ट निज मन माहिँ।

रथ वढ़ाओ, लखैं, छंदक! आज हम दै ध्यान
और सुखमय जगत यह, नहिं रह्यो जाको ज्ञान।"

फाटकन सोँ होत आगे चल्यो रथ गंभीर।
सोहती दोउ ओर पथ के लगी भारी भीर।
करत अपने कुँवर को मिलि सकल जयजयकार।
हैँ लखात प्रसन्नमुख सव नृपवचन अनुसार।

किंतु वाही समय निकस्यो झोंपड़ी सोँ आय
एक जर्जर वृद्ध पथ पै धरत डगमग पाय।

फटे मैले चीथरे तन पै लपेटे घोर;
जाति काहू की न भूलिहु दृष्टि जाकी ओर ।

त्वचा झुर्री भरी सूखी खाल सी दरसाति,
झूलि पंजर पै रही पलहीन काहू भाँति ।
नई वाकी पीठ है दवि बहु दिनन के भार ।
धँसी आँखिन सोँ बहै कीचड़ तथा जलधार ।

हिलति रहि रहि दाढ़ जामें एकहू नहिँ दाँत ।
धूम और उछाह एतो देखि देखि सकात ।
लिए लाठी एक निज कंकाल-कर में छीन
टेकिबे हित अंग जर्जर और शक्तिविहीन ।

दूसरो कर धरे पसुरिन पै हृदय के पास,
कढ़ै भारी कष्ट सोँ रहि रहि जहाँ सोँ साँस ।
क्षीण स्वर सोँ कहत है "दाता ! सदा जय होय !
देहु कछु, मरि जायहौं अब और हौं दिन दोय ।"

खड़ो हाथ पसारि, कफ सोँ गयो कंठ रुँधाय ।
कठिन पीड़ा सोँ कहरि पुनि कह्यो "कछु मिलि जाय ।"
किन्तु ताहि ढकेलि पथ सोँ कह्यो लोग रिसाय
"भाग ह्याँ सोँ; नाहिं देखत कुँवर हैं रहे आय ? "

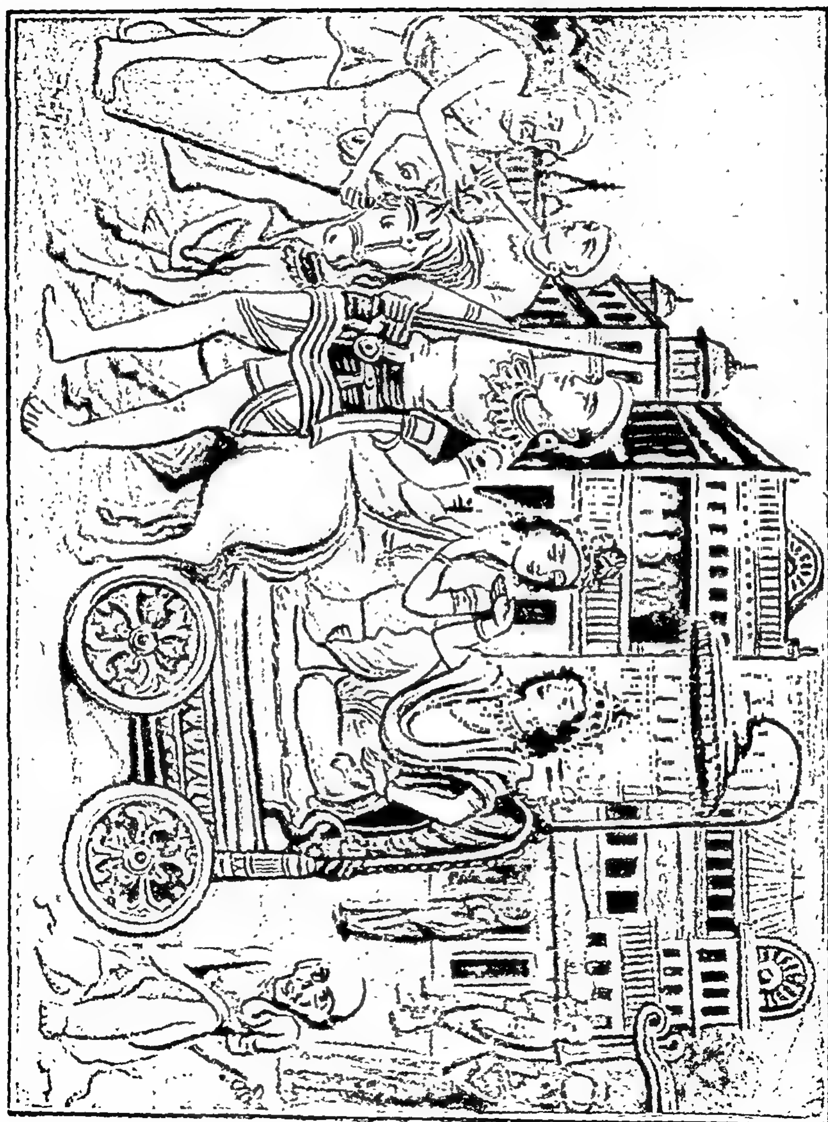
कहत कुँवर पुकारि "हैं हैं! रहन क्यों नहिं देत ?"
फेरि बूझत सारथी सों करत कर संकेत—
"कहा है यह ? देखिबे में मनुज सो दरसात ;
विकृत, दीन, मलीन, छीन कराल औ नतगात।

कबहुँ जनमत कहा ऐसे हू मनुज संसार ?
अर्थ याको कहा जो यह कहत 'हौं दिन चार ?'
नाहिं भोजन मिलत याको हाड़ हाड़ लखाय ।
विपद या पै कौन सी है परी ऐसी आय ?"

दियो उत्तर सारथी तब "सुनौ, राजकुमार;
वृद्ध नर यह और नहिं कछु, जाहि जीवन भार;
रही चालिस वर्ष पहिले जासु सूधी पीठ,
रहे अंग सुडौल सब औ रही निर्मल दीठ।

लियो जीवन को सबै रस चूसि तस्कर काल,
हरयो बल सब, फेरि मति गति करयो याहि विहाल।
भयो जीवनदीप याको निपट तैलविहीन;
रहि गयो नहिं सार कछु, अब भई ज्योति मलीन।

रही जो लौ शेष, ताको नहिँ ठिकानो ठौर;
झलमलाति बुझायबे हित चार दिन लौं और।
जरा ऐसी वस्तु है, पै, हे कुँवर मतिमान!
देत क्यों या बात पै तुम व्यर्थ अपनो ध्यान ?"



कुँवर पूछ्यो "कहा, याही गति सबै की होय,
मिलत अथवा कहूँ ऐसो एक सौ में कोय ?"
कह्यो छंदक "सबै याही दशा में दरसायँ,
जियत एते दिनन लौं जो जगत में रहि जायँ।"

फेरि बूझत कुँवर "जो एते दिनन पर्यंत
रहैं जीवित हमहुँ ह्वै हैं कहा ऐसे अंत ?
जियति अस्सी वर्ष लौं जो चली गोपा जाय,
जरा वाहू को कहा यों घेरि लै है आय ?

और गंगा गौतमी जो सखी परम प्रवीन,
होयहैं वेहू कहा या भाँति जर्जर छीन ?"
दियो उत्तर सारथी "हाँ, अवसि, हे नरराय !"
कह्यो राजकुमार "बस, अब देहु रथहि घुमाय।

चलौ घर की ओर लै अब मोहिं वेगि, सुजान !
आजु देख्यों रह्यो जाको नाहिं कछु अनुमान।"

आयो फिरि सिद्धार्थ कुँवर निज भवन ताहि छन
सोचत यह सब उदासीन, अत्यंत खिन्नमन।
गए विविध पकवान और फल सम्मुख लाए;
छूयो नहिं, नहिं लख्यो, रह्यो निज सीस नवाए।
निपुण नर्त्तकी बिलमावन की रहीं जतन करि
किंतु रह्यो सो मौन, कछू सोचत उसास भरि।

यशोधरा दुखभरी परी चरनन पै आई,
रोवति पूछ्यो "नाथ रहे क्यों सुख नहिं पाई?"
कह्यो कुँवर "सुख लहौं सोइ खटकत मन माहीं।
ह्वैहै याको अंत अवसि, कछु संशय नाहीं।
ह्वैहैं बूढ़े, यशोधरे! हम तुम दिन पाई,
नमित-गात, रसरूप-रहित, सब शक्ति गँवाई।
भुजपाशन बँधि रहैं, अधर सों अधर मिलाई
घुसिहै काल कराल तऊ निज घात लगाई।
मम उमंग औ तव यौवनश्री हरिहै ऐसे
असित निशा हरि रही अरुण द्युति नग की जैसे।
यहै जानि मम हृदय बीच शंका है छाई।
सोचौं, कैसो है कराल यह काल कसाई!
कैसे यासों यौवनरस हम सकैं बचाई?"
नाहिं कुँवर को चैन; बैठि सब रैन बिताई।

देख्यो शुद्धोदन महीपाल
वा रैन स्वप्न ह्वै अति बिहाल।
लखि परयो इंद्र को ध्वज विशाल,
अति शुभ्र, खचित रविकिरणजाल।
उठि तुरत प्रभंजन प्रबल फेरि
कियो टूक टूक ताको उधेरि।

ताके पाछे तहँ रहे छाय
चहुँ दिशि सों छायापुरुष आय।
लै टूक केतु के करत रोर,
गे नगरद्वार के पूर्व ओर।
अब स्वप्न दूसरो है दिखात,
दक्षिण दिशि सों दस द्विरद जात।
पगभार देत भूतल कँपाय,
निज रजत शुंड इत उत घुमाय।
सबके आगे जो गज अनूप
तापै सुत अपनो लख्यो भूप।
अब स्वप्न तीसरे में लखात
रथ प्रखर एक अति जगमगात;
हैं खैंचत जाको तुरग चार
अति प्रबल वेग जिनको अपार।
नथुनन सों निकसत धूमखंड,
मुख अनल-फेन उगिलत प्रचंड।
चैाथे सपने में चक्र एक
लखि परत फिरत नहिं थमत नेक।
दमकति कंचन की नाभि जाति,
आरन पै मणिद्युति जगमगाति।
हैं लिखे नेमि की पूरि कोर
बहु मंत्र अलौकिक चहूँ ओर।

पुनि लखत स्वप्न पंचम नरेश;
नग और नगर विच जो प्रदेश
तहँ वज्रदंड लै कै कुमार
करि रह्यो दुंदुभी पै प्रहार।
घननाद सरिस धुनि कढ़ति घोर,
घहराति गगन में चहूँ ओर।
अब छठौं स्वप्न यों लखत भूप
पुर बीच धौरहर है अनूप;
नभ के ऊपर जो उठत जात,
घनमंडित मंडपसिर लखात;
बसि जापै दोऊ कर उठाय
रह्यो कुँवर रत्न इत उत लुटाय।
मणि मानिक बरसत आय आय,
सिगरो जग लूटत धाय धाय।
पै स्वप्न सातवें में सुनात
अति आर्त्त नाद दिशि दिशि समात।
छः पुरुप ढाँपि मुख लखि प्रभात
करि करि विलाप हैं भगे जात।

भूपति के मन इन स्वप्नन की शंका छाई;
जिनको फल नहिं वाको कोऊ सक्यो बताई।

बोले नृप ह्वै खिन्न "विपति मेरे घर आवै,
पै कोऊ नहिं मर्म स्वप्न को मोहिँ बतावै।
ह्वै उदास सब लोग चले सोचत मन में तब
कैसे होय विचार भूप के स्वप्नन को अब।
परे द्वार पै जात वृद्ध ऋषि एक दिखाई
धारे शुचि मृगचर्म, सीस सित जटा बढ़ाई।
कह्यो सबन को टेरि "भूप के ढिग हम आए;
स्वप्नन को फल चलौ देत हम अबै बताए।"
गयो भूप के पास, चित्त दै सुन्यो स्वप्न सब;
कह्यो विनय के सहित "सुनौ, हे महराज! अब।
धन्य धन्य यह धाम जहाँ सों निश्चय कढ़िहै
भुवनव्यापिनी प्रभा प्रभाकर सों जो बढ़िहै।
सात स्वप्न जो तुम्हैँ, नृपतिवर! परे लखाई,
हैँ वे मंगल सात जगत् मैँ जैहैं छाई।
इंद्रध्वजा लखि परी तुम्हैं जो पहले भारी
टूक टूक ह्वै गिरति, लुटति पुनि छन में सारी,
सुरन जनायो स्वप्न लाय सो केतुपतन को
नए धर्म को उदय, अंत प्राचीन मतन को।
एक दशा नहिं रहति होयँ चाहै सुर वा नर;
वाही भाँति विहात कल्प ज्यों बीतत वत्सर।
भूमि कँपावनहार परे लखि जो दस वारण
गुनौ तिन्हैं दस शील जिन्हैं अब करिकै धारण

राजपाट, घर बार छाँड़िहै कुँवर तिहारो
सत्य मार्ग को खोलि कँपैहै यह जग सारो।
रथ के घोड़े चार रहे ज्वाला जो उगिलत
ऋद्धिपाद ते चार कुँवर करि जिन्हैं हस्तगत
सारे संशय अंधकार को काटि बहैहै;
अतिशय प्रखर प्रकाश ज्ञान को ताहि सुझैहै।
स्वर्णनाभि युत चक्र लख्यो जो अति उजियारो
धर्मचक्र सो जाहि फिरैहै कुँवर तिहारो।
औ दुंदभी विशाल कुँवर जो रह्यो बजावत,
जाको घोर निनाद गयो लोकन में धावत
सो गर्जन गंभीर विमल उपदेशन केरो,
जिन्हैं सुनैहै कुँवर करत देशन में फेरो।
और धौरहर उठत परयो लखि जो नभ ऊपर
बुद्धशास्त्र सो, जो चलि जैहै बढ़त निरन्तर।
गिरत रत्न अनमोल शिखर सों जो देखे पुनि
सुर-नर-वांछित तिन्हैं धर्म उपदेश लेहु गुनि।
रोवत जो मुख ढाँपि अंत छः पुरुष लखाने
रहे पूर्व आचार्य, जात जो अब लौं माने।
दिव्य ज्ञान औ अटल वाद सों कुँवर तिहारो
तिन्हैं सुझैहै हेरि हेरि तिनको भ्रम सारो।

महाराज ! आनंद करौ, तव सुत की संपति
सकल भुवन के राजपाट सों है बढ़िकै अति।

तन पै वास कषाय कुँवर जो धारण करिहै
स्वर्णखचित वस्त्रन सों सो अनमोल ठहरिहै।
यहै स्वप्न को सार; नृपति! अब विदा माँगिहैं,
बीते वासर सात बात ये घटन लागिहैं।"
यों कहि ऋषि भू परसि दंडवत करत सिधाए;
धन दै दूतन हाथ ताहि नृप देन पठाए।
किन्तु आय तिन कह्यो "सोम के मन्दिर माहीं
जात लख्यो हम ताहि; गए जब तहँ कोउ नाहीं।
केवल कौशिक एक मिल्यो तहँ पंख हिलावत।"
कबहुँ देवगण भूतल पै याही विधि आवत।
चकित भयो अति समाचार जब नृप यह पायो;
अति उदास ह्वै मंत्रिन को आदेश सुनायो—
"नए भोग रचि और कुँवर को रखौ लुभाई।
दूनी चौकी जाय फाटकन पै बैठाई।"

होनी कैसे टरै? कुँवर के मन यह आई,
फाटक बाहर और लखैं जग की गति जाई;
देखैं जीवन को प्रवाह जो अति सुहात है;
काल-मरुस्थल जाय, हाय! पै सो बिलात है।
विनती कीन्ही जाय पिता सों यों कुमार तब—
"चहौं देखिबो पुर जैसो है वैसोई अब।

वा दिन तो अनुशासन फेर्‌यो पुर में सारे
रहैं न दुख के दृश्य मार्ग में कोउ हमारे,
मम प्रसन्नता हेतु बनैं बरबस प्रसन्न सब,
हाट बाट में होत रहैं बहु मङ्गल उत्सव।
पै मैं लीनो जानि नित्य को नहिं सो जीवन
देख्यों जो मैं अपने चारों ओर मुदित मन।
यदि मेरो संबंध राज्य सों तुम्हरे नाते
जानन चहिए गली गली की मोकों बातें,
तिन दीनन की दशा चूर जो हैं श्रम माहीं,
रहन सहन तिन लोगन की जो नरपति नाहीं।
आज्ञा मोको मिलै जाहुँ मैं छद्म वेश गहि।
सुख तिनको या बार निरखि मैं फिरौं मोद लहि।
यदि ह्वैहों नहिं सुखी, बाढ़िहै अनुभव जानो।
मिलै मोहिं आदेश फिरौं पुर में मनमानो।
सुनि इन बातन को महीप बोले मंत्रिन प्रति—
"संभव है या बार कुँवर की फिरै कछू मति।
करि प्रबंध अब देहु नगर देखै सो जाई।
कैसो वाको चित्त सुनाओ मोको आई।"

दूसरे दिन कढ़े छंदक साथ राजकुमार,
चले बाहर फाटकन के नृप वचन अनुसार।

वन्यो वणिक कुमार, छंदक वन्यो तासु मुनीम ।
पाँव प्यादे चले दोऊ लखत भीर असीम ।

जात पुरजन में मिले नहिं तिन्हैं चीन्हत कोउ ।
बात सुख औ दुःख की वे जात देखत दोउ ।
गली चित्रित लखि परैं औ उठत कलरव घोर ।
वणिक बैठे धरि मसाले अन्न चारों ओर ।

हाथ में लै वस्तु गाहक मोल करत लखात—
"दाम एतो नाहिं एतो लेहु, मानौ बात ।"
'हटौ छाँड़ौ राह' ऐसी टेर कतहुँ सुनाति;
मरमराती बोझसों है बैलगाड़ी जाति ।

कूप सोँ भरि कलश जातीं गृहबधू सिर धारि,
एक कर सोँ गोद में निज चपल शिशुहिं सँभारि ।
है मिठाई की दुकानन पै भँवर की भीर ।
तंतुवाय पसारि तानो विनत हैं कहुँ चीर ।

कतहुँ धुनिया धुनत रूई ताँत को झननाय ।
चलति चक्की कतहुँ, कूकर खड़े पूँछ हिलाय ।
कतहुँ शिल्पी हैं बनावत कवच औ करवाल ।
बैठि कतहुँ लुहार पीटत फावड़ो करि लाल ।

बैठि गुरु के सामने कहुँ अर्द्धचंद्राकार
शिष्य सीखत वेद हैं करि मंत्र को उच्चार।
कुसुम, आल, मजीठ सों रँगि, दोउ कर सों गारि
धूप में रँगहार गीले वसन रहे पसारि।

जात सैनिक ढाल बाँधे, खड्ग को खड़काय।
ऊँटहारो ऊँट पै कहुँ बैठि झूमत जाय।
विप्र तेजस्वी मिलैं औ धीर क्षत्रिय वीर;
कठिन श्रम में हैं लगे कहुँ शूद्र श्यामशरीर।

कहुँ सँपेरो बैठि पथ के तीर करत पुकार,
भाँति भाँति भुजंग के धरि अंग जंगम हार।
श्वेत कौड़िन सों टँको महुवर वजाय वजाय
रह्यो कारे काल को फुफकार सहित नचाय।

पालकी लै वधू लावन भीर सजि कै जाति;
संग सिंघे औ नगारे, चपल कोतल पाँति।
कहूँ देवल पै वधू कोउ फूल माल चढ़ाय
फिरैं पिय परदेस सों यह रही जाय मनाय।

पीटि पीतर कहुँ ठठेरे रहे 'ठन ठन' ठानि
ढारि लोटे औ कटोरे, धरत दीवट आनि।
बढ़े आगे जात दोऊ फाटकन के पार
धरि तरंगिनि-तीर-पथ जहँ नगर को प्राकार।

मारग के इक ओर परो सुनि यह आरत स्वर
"हाय ! उठाओ, मरों पहुंचिहौं मैं कैसे घर ?"
एक अभागो जीव कुँवर को परो लखाई,
परो धूरि में घोर व्याधि सों अति दुख पाई।
सारो तन छत विछत, स्वेद छायो ललाट पर;
रह्यो ओंठ चढ़ि दुसह व्यथा सों, मीजत है कर
कढ़ी परति हैं आँखि, वेदना कठिन सहत है;
हाँफि हाँफि कर टेकि भूमि पै उठन चहत है।
आधो उठि इक वार परो गिरि काँपत थर थर;
बेवस उठ्यो पुकारि "धरौ कोऊ मेरो कर।"
दौरि परो सिद्धार्थ, बाहँ गहि दियो सहारो;
निरखि नेह सों तासु सीस निज उरु पै धारो।
पूछन लाग्यो "बंधु ! दशा है कहा तिहारी ?
सकत न क्यों उठि ? कहौ, कौन सो दुख है भारी।
छंदक ! क्यों यह परो कराहत बिलबिलात है ?
हाँफि हाँफि कछु कहि उसास क्यों लेत जात है ?"
कह्यो सारथी "सुनौ, कुँवर ! यह व्याधिग्रस्त नर;
या के तन के तत्व विलग ह्वै रहे परस्पर।
सोइ रक्त जो रह्यो अंग में बल वगरावत
भीतर भीतर मथत सोइ अब तनहिं तपावत।
भरि उछाह सों कबहुँ हृदय जो उमगत रहि रहि
धरकत फूटी ढोल सरिस सोई अब दुख सहि।

खसी धनुष की डोर सरिस नस नस भईं ढीली।
चूतो तन को गयो, नई ग्रीवा गरबीली।
जीवन को सौंदर्य और सुख गयो बिलाई!
है यह रोगी जाहि पीर अति रही सताई।
देखौ, कैसो रहि रहि कै ऐंठत सारो तन!
कढ़ी परति हैं आँखि, पीर सौं टीसत दाँतन।
चाहत मरिबो किंतु मृत्यु तौ लौं नहिं ऐहै
जौ लौं तन में भोग व्याधि अपनो न पुरैहै।
जोड़ जोड़ के बंधन सारे जब उखारिहै,
नाड़िन सौं सब प्राणशक्ति क्रमशः निकारिहै,
देहै याको छाँड़ि, जाय परिहै कहुँ अनतहि।
दूर रहौ, हे कुँवर! व्याधि कहुँ लगै न आपहि।"
लिए रह्यो पै ताहि, कुँवर बोल्यो यह बानी—
"औरहु ह्वै हैं परे अनेकन ऐसे प्रानी।
बोलौ साँची, कहा याहि गति सब ही पैहैं।
है यह जैसो आज कबहुँ हम हूँ ह्वै जैहैं?"
कह्यो सारथी "व्याधि कबहुँ है अवसि सतावति;
काहु न काहू रूप माहिं है सब पै आवति।
मूर्च्छा औ उन्माद, वात, पित्त, कफ, जूड़ी, जर,
नाना विधि व्रण, अतीसार औ यकृत, जलंधर
भोगत हैं सब, बचत कतहुँ है कोऊ नाहीं
रक्त मांस के जीव जहाँ लौं हैं जग माहीं।

चूझत फेरि कुमार "मोहिँ यह देहु वताई,
परत न आवत जानि कहा ये दुख सब, भाई !
छंदक वोल्यो "दवे पाँव ये ऐसे आवत
ज्योँ विषधर चुपचाप आय निज दाँत धँसावत;
अथवा झाड़िन वीच वाघ ज्योँ लुको रहत है,
झपटत है पुनि घात पाय जब जहाँ चहत है;
अथवा जैसे वज्र परत नभ सोँ घहराई,
दलत काहु को और काहु को जात वचाई।
कह्यो कुँवर "तव तो सब को सब घरी रहत भय?"
सारथि सीस हिलाय कह्यो "यामें का संशय?"
कह्यो कुँवर "तव तौ कोऊ यह सकत नाहिँ कहि
सोवत सुख सोँ आज जागिहैँ कालिहु ऐसहि"
"कोउ कहत योँ नाहिँ, कुँवर! या जग के माहीं;
छन में ह्वैहैं कहा कोउ यह जानत नाहीं।"
कह्यो कुँवर है अंत कहा सब दुःखन केरो
यहै जरा, तन जर्जर औ मन शिथिल घनेरो?"
उत्तर दियो सुजान सारथी "हाँ, कृपालुवर!
इते दिनन लौँ जीवत जो रहि जायँ नारि नर।"
"पै न सकै यदि भोगि ताप कोउ एतो दुःसह,
अथवा भोगत भोगत होवै है जैसो यह;
रहै साँस ही चलत, जाय सो दिन दिन थाको,
अति जर्जर ह्वै जाय; कहा पुनि ह्वैहै ताको?"

"मरि जैहै सो, कुँवर!" कह्यो छंदक निःसंशय
"काहू विधि, कोउ घरी मृत्यु आवति है निश्चय।"

देखी दीठि उठाय कुँवर पुनि भीर अगारी,
रोवति पीटति जाति नदी की ओर सिधारी।
"राम नाम है सत्य" सबै हैं रहि रहि टेरत;
सीस नवाये जात, कतहुँ इत उत नहिं हेरत।
पाछे विलपत जात मृतक के घर के प्रानी,
इष्ट मित्र औ बंधु दुःख सम उर में आनी।
चले जात तिन बीच चार जन पाँव बढ़ाए,
हरे हरे बाँसन की अर्थी काँध उठाए,
जापै काठ समान परो दरसात मृतक नर—
कोख सटी, पथराई आँखैं, वदन भयंकर।
'राम नाम' कहि लोग ताहि लै गए नदी पर
जहाँ चिता है सजी राखि जल सों कछु अंतर।
दीनों तापै पारि काठ ऊपर सों डारी
कैसी सुख की नींद इतै सोवत नर नारी!
शीत घाम को क्लेश नाहिं पुनि तिन्हैं जगावत।
चारि कोन पै, लखौ, आगि हैं लोग लगावत।
धीरे धीरे दहकि लई सो शव को घेरी;
लाँबी जीभ लफाय माँस चाटत चहुँ फेरी।

सनसनात है चर्म सीझि, करकत हैं बंधन ।
परो पातरो धूस, राख ह्वै छितरानो तन !
केवल भूरी भस्म बीच अब जात निहारे
श्वेत अस्थि के खंड—शेष नरतनु के सारे ।

कह्यो कुँवर पुनि "कहा यहै सब की गति ह्वैहै ?"
छंदक बोल्यो " अंत यहै सब पै बनि ऐहै ।
इतो अल्प अवशेष चिता पै रह्यो जासु जरि
भूखे काक अघात न त्यागत 'काँव काँव' करि
खात पियत औ हँसत रह्यो जीवन-अनुरागो
झोंको याही बीच बात को तन में लागो,
अथवा ठोकर लगी, ताल में जाय तरायो,
सर्प डस्यो कहुँ आय, कुपित अरि अस्त्र धँसायो,
सीत समानी अंग, ईंट सिर पै भहरानी,
भयो प्राण को अंत, मरयो तुरतहिं सो प्रानी ।
पुनि ताको नहिं क्षुधा दुःख औ सुख जग माहीं ।
मुखचुंबन औ अनलताप ताको कछु नाहीं ।
नहिं चिरायँध गंध मांस की अपने सूँघत;
और न चंदन अगर चिता के ताको महकत ।
स्वादज्ञान रसना सों वाके सबै गयो ढरि;
श्रवणशक्ति नसि गई, नयन की ज्योति गई हरि ।

रही न देहहु, होय छार छन माहिँ विलानी।
जिनसों वाको नेह आज ते विलपत प्रानी।
रक्त मांस के जीवन की सब की गति याही;
ऊँच नीच औ भले बुरे सब मरत सदा ही।
कहत शास्त्र मरि जीव फेर जनमत हैं जाई
नई देह धरि कहाँ कहाँ, को सकै बताई।"

नीर भरे तब नयन कुँवर नभ की दिशि फेर्‌यो,
दिव्य दया सों दीप्त दृष्टि करि ऊपर हेर्‌यो।
नभ सों भू लौं, भू सों नभ लौं रह्यो निहारी;
मानो ताकी दृष्टि सृष्टि छानति है सारी
पैवे हित सो झलक गई जो कहूँ दूर परि,
जासों दुःखनिदान परत लखि एक एक करि।
प्रेमदाह सों दमक्यो आनन आशापूरो,
उठ्यो पुकारि अधीर "अहो! जग दुख सों भूरो,
रक्त मांस के जीव ज्ञात अज्ञातहु सारे!
काल क्लेश के जाल बीच जो परे बेचारे,
देखत हौं या मर्त्यलोक की पीड़ा भारी
औ असारता याके सुख वैभव की सारी,
नीकी तें नीकी याकी वस्तुन को धोखो
औार बुरी तें बुरी वस्तु को ताप अनोखो।

सुख पाछे दुख औ वियोग संयोग अनंतर,
यौवन पाछे जरा, जन्म पै मरण लहत नर।
मरिबे पै पुनि कैसे कैसे जन्म न जाने;
राखत यों यह चक्र नाधि सब जीव भुलाने
भरमावन को तिनको झूठे आनँद माहीं
औ अनेक संतापन में जो झूठे नाहीं।
मोहूँ को यह भ्रांतिजाल चाह्यो बिलमावन,
जासों जीवन मोहिं परयो लखि परम सुहावन।
लग्यो मोहिं जीवनप्रवाह वा सरि सम सुंदर
रविरंजित सुख-शांति-सहित जो बहति निरंतर।
पै अब देखौं वाकी धारा के हिलोर सब
हरे कछारन सों उछरत हैं जात एक ढब
केवल निर्मल नीर आपनो अंत गिरावन
खारे कडुए सागर में जो परम भयावन।
गयो सरकि जो परो रह्यो परदो आँखिन पर।
वैसे ही हैं हमहुँ एक जैसे हैं सब नर,
अपने अपने देवन को जो परे पुकारत,
किंतु सुनत जब नाहिं कोउ तब हिय में हारत।
ह्वै है किंतु उपाय अवसि कोऊ जो हेरो
तिनके, मेरे और सबन के दुःखन केरो।
चाहत आप सहाय देव सामर्थ्यहीन जब
कहा सकैं करि दीन दुखिन की सुनि पुकार तब ?

होय मोहिँ सामर्थ्य बचावन की कछु जाको
जान देहुँ मैं यों पुकारिबो बिफल न ताको ।
है कैसी यह बात रचत ईश्वर जग सारो
पै राखत है सदा दुःख में ताहि, निहारो !
सर्वशक्तिमत् ह्वै राखत यदि सृष्टि दुखारी
करुणामय सो नाहिँ और ना है सुखकारी ।
और नाहिँ यदि सर्वशक्तिमत्, ईश्वर नाहीं ।
बस, छंदक, बस ! बहुत लख्यों मैं एते माहीं ।"

सुनी नृपति यह बात, घोर चिंता चित छाई ;
दोहरी, तिहरी फाटक पै चौकी बैठाई ।
बोल्यो "कोऊ जान न भीतर बाहर पावैं
स्वप्न घटन के दिन न बीति सब जौ लौं जावैं ।"

———

चतुर्थ सर्ग

जब दिन पूरे भए बुद्ध भगवान् हमारे
तजि अपनो घर बार घोर वन ओर सिधारे।
जासों पर्यो खभार राजमंदिर में भारी,
शोकविकल अति भूप, प्रजा सब भई दुखारी।
पै निकस्यो निस्तारपंथ प्राणिन हित नूतन;
प्रगट्यो शास्त्र पुनीत कटैं जासों भवबंधन।

महाभिनिष्क्रमण

निखरी रैन चैत पूनो की अति निर्मल उजियारी।
चारुहासिनी खिली चाँदनी पटपर पै अति प्यारी।
अमराइन में धँसि अमियन को दरसावति बिलगाई,
सींकन में गुछि झूलि रहीं जो मंद झकोरन-पाई।

चुवत मधूक परसि भू जौ लौं 'टप टप' शब्द सुनावैं
ताके प्रथम पलक मारत भर में निज झलक दिखावैं।
महकति कतहुँ अशोकमंजरी; कतहुँ कतहुँ पुर माहीं
रामजन्म-उत्सव के अब लौं साज हटे हैं नाहीं।

छिटकी विमल विश्रामभवन पै यामिनी मृदुताभरी
वासित सुगंध प्रसूनपरिमल सों, नछत्रन सों जरी।
ऊँचे उठे हिमवान की हिमराशि सों मनभावनी
संचरति शैलसुवायु शीतल मंद मंद सुहावनी।

चमकाय शृंगन चंद्र चढ़ि अब अमल अंबरपथ गह्यो;
झलकाय निद्रित भूमि, रोहिनि के हिलोरन को रह्यो।
रसधाम के बाँके मुँड़ेरन पै रही द्युति छाय है
जहँ हिलत डोलत नाहिँ कोऊ कतहुँ परत लखाय है।

बस हाँक केवल फाटकन पै पाहरुन की सुनि परै,
जहँ एक 'मुद्रा' कहि पुकारत एक 'अंगन' धुनि करै।
बजि उठत तोरणवाद्य हैं, पुनि भूमि नीरवता लहै।
है कबहुँ बोलत फेरु, पुनि झनकार झींगर की रहै।

भवन भीतर जाति जालिन बीच सों छनि चाँदनी
भीति पै औ भूमि पै जो सीप मर्मर की बनी।
किरनमाल मयंक की तरुनीन पै है परि रही।
स्वर्ग बिच विश्रामथल अमरीन को मानो यही।

कुमार के रंगनिवास की हैं अलबेली नवेली तहाँ रसनी।
लसैं छवि सोवत मैं मुख की प्रति एक की ऐसी लुनाई सनी,
परैं कहुँ जाहि पै दीठि जहाँ सोइ लागति सुंदरि ऐसी घनी
यहै कहि आवत है मन में 'सब में यह रत्न अमोल धनी।'

पै वढ़ि सुंदरि एक सों एक लखाति अनेक हैं पास परी।
मोद में माति फिरैं अँखियाँ तहँ रूप के राशि के बीच भरी;
रत्न की हाट में दौरति ज्यों मणि तें मणि ऊपर दीठि छरी,
लोभि रहै प्रति एक पै जौ लगि और की ओर न जाय ढरी।

सोवतीं सँभार बिनु सोभा सरसाय, गात
आधे खुले गोरे सुकुमार मृदु ओपधर।
चीकने चिकुर कहूँ बँधे हैं कुसुमदाम,
कारे सटकारे कहूँ लहरत लंक पर।
सोवैं थकि हास औ विलास सों पसारि पायँ,
जैसे कलकंठ रसगीत गाय दिन भर।
पंख बीच नाए सिर आपनो लखाति तौ लौं
जौ लौं न प्रभात आय खोलन कहत स्वर।

कंचन की दीवट पै दीपक सुगंधभरे
जगमग होत भौन भीतर उजास करि।
आभा रंग रंग की दिखाय रहीं तासों मिलि
किरन मयंक की झरोखन सों ढरि ढरि।
जामें है नवेलिन की निखरी निकाई अंग
अंगन की, वसन गए हैं कहूँ नेकु टरि।
उठत उरोज हैं उसासन सों वार वार,
सरकि परे हैं हाथ नीचे कहूँ ढीले परि।

देखि परैं साँवरे सलोने, कहूँ गोरे मुख,
भ्रुकुटी विशाल वंक, वरुनी बिछी हैं श्याम '
अधखुले अधर, दिखात दंतकोर कछु
चुनि धरे मोती मानो रचिवे के हेतु दाम।
कोमल कलाई गोल, छोटे पायँ पैंजनी हैं,
देति झनकार जहाँ हिलै कहूँ कोऊ वाम।
स्वप्न टूटि जात वाको जामें सो रही है पाय
कुँवर रिझाय उपहार कछु अभिराम।

ह्वै कै परी लाँबी कोऊ वीना लै कपोल तर,
आँगुरी अरुझि रहीं अब ताईं तार पर
वाही रूप जैसे जब काढ़ति सो तान रही
झूमि रस जाके झपे लोचन विशाल वर।
लै कै परी कोऊ मृगशावक हिये तें लाय;
सोय गयो टूँगत कुसुम पाय तासु कर।
कुतरो कुसुम लसै कामिनी के कर बीच,
पाती लपटानी हरी हरिन अधर तर।

सखियाँ द्वै आपस में जोरि गर गईं सोय
गुहत गुहत गुच्छ मोगरे को महकत;
प्रेमपाश-रूप रह्यो बाँधि अंग अंगन जो
अंतस् सो अंतस् मिलावत न सरकत।

सोयवे के प्रथम पिरोवति रही है कोउ
कंठहार हेतु मोती मानिक औ मरकत ।
सूत में पिरोए रहे अरुझि कलाई बीच
रंग रंग को प्रकाश तिनसों है झलकत ।

उपवन भेंटती नदी को कल नाद सुनि
सोईं सब विमल विछावन पै पास पास ।
मूँदि दल नलिनी अनेक रहीं जोहि मनो
भानु को प्रकाश, जाहि पाय होत है विकास ।
कोठरी कुमार की लखाति जाके द्वार बीच
दमकि सुरंगपट रहे पाय कै उजास ।
ताके दोऊ ओर गंगा गौतमी सलोनी सोईं
रसधाम बीच जो प्रधान ह्वै करैं निवास ।

लगे द्वार पै चंदन के हैं चित्रित चौखट;
कनककलित वहु परे मनोहर अरुण नील पट ।
चढ़ि कै सीढ़ी तीन परत है जिनके भीतर
अति विचित्र आवास कुँवर को परम मनोहर;
रेशम की गुलगुली सेज जहँ सजी सुनिर्मल
लगति कमलदल सरिस अंग तर जो अति कोमल ।
भीतिन पै हैं मोतिन की पटरी वैठाई,
सिंहल की सीपिन सों जो हैं गईं मँगाई ।

सित मर्मर की छत पै सुंदर पच्चीकारी,
रंग रंग के नग जड़ि कै जो गई सँवारी।
विविध वर्ण की बनी बेलबूटी मन मोहति।
कटो झरोखन बीच चित्रमय जाली सोहति,
जिनसों खिली चमेलिन को सौरभ है आवत
चँद्रकिरण, शीतल समीर को संग पुरावत।
भीतर सुषमा लसति नवल दंपति की भारी—
शाक्य कुँवर है बसत, लसति गोपा छविवारी।

यशोधरा उठि परी नींद सों कछु अकुलाई,
उर सों अंचल सरकि रह्यो कटि सों लपटाई।
रहि रहि लेति उसास, हाथ भौंहन पै फेरति,
भरे विलोचन वारि चाहि निज पिय दिशि हेरति।
तीन बार कर चूमि कुँवर को बोली सिसकति
"उठौ, नाथ! मो को वचनन सों सुखी करौ अति।"
कह्यो कुँवर "है कहा? प्रिये! मोहिं कहौ बुझाई।"
पै सिसकति सो रही, बात मुख पै नहिँ आई।
पुनि बोली "हे नाथ! गर्भ में शिशु जो मेरे
सोचति ताकी बात सोय मैं गई सवेरे।
लखे भयानक स्वप्न तीन मैं अति दुखघाती,
करिकै जिनको ध्यान अजहुँ लौं धरकति छाती।

एक श्वेत वृष अति विशालवपु परयो लखाई
घूमत वीथिन वीच विपुल निज शृंग उठाई,
उज्वल निर्मल रत्न एक धारे मस्तक पर
दमकत जो ज्यों परो टूटि तारो अति द्युतिधर,
अथवा जैसो नागराज को मणि द्युतिवारो
जासों होत पताल वीच दिन को उजियारो।
मंद मंद पग धरत गलिन में चल्यो वृषभ वढ़ि
नगर द्वार की ओर; रोकि नहिं सक्यो कोउ कढ़ि।
भई इंद्रमंदिर सों वाणी यह विषादमय—
"जो न रोकिहौ याहि नगरश्री नसिहै निश्चय।"
जब कोऊ नहिं रोकि सक्यो तब मैं विलखाई,
ताके गर भुजपाश डारि मैं लियो दवाई।
आज्ञा दीनी द्वार वंद करिवे की मैं पुनि;
पै सो कंध हिलाय, गर्व सों करि भीषण धुनि
तुरत छूटि मम अंक वीच सों धायो हँकरत,
तोरण-अर्गल तोरि भज्यो पहरुन को कचरत।
दूजे अद्भुत स्वप्न माहिँ मैं लख्यों चारि जन,
नयनन सों कढ़ि रह्यो तेज जिनके अति छन छन,
मानो लोकप चलि सुमेर तें भू पै आए,
देवन को लै संग रहे या पुर में छाए।
जहाँ द्वार के निकट इंद्र की ध्वजा पुरानी
गिरी टूटि अरराय, कँपी सिगरी रजधानी।

दिव्य केतु पुनि उठ्यो एक ओरहि तहँ फहरत;
रजततार में टँके अनल सम मानिक छहरत;
जासों कढ़ि बहु किरन शब्दरूपी छितरानी,
सुनि जिनको भे मुदित जगत के सारे प्रानी ।
मृदु झकोर सों चल्यो पूर्वसों प्रात समीरन,
रत्नजटित सो केतु पसारयो, पढ़ैं सकल जन ।
झरे अलौकिक कुसुम न जाने कित सों आई;
रूप रंग में वैसे ह्याँ नहिं परैं लखाई ।"

कह्यो कुँवर "हे कमलनयनि ! सपनो यह सुंदर ।"
बोली सो "हे आर्य्यपुत्र ! आगे है दुखकर ।
गगनगिरा सुनि परी 'समय आयो नियराई ।'
याके आगे स्वप्न तीसरो परयो लखाई ।
हेरयों मैं, हे नाथ ! हाय, निज पार्श्व ओर जब
पायों सूनी सेज, तिहारे वसन परे सब ।
चिह्न मात्र तव रहे, छाँड़ि तुम मोहिं सिधारे,
जो मेरे सर्वस्व, प्राणधन, जीवन, प्यारे ।
देखति हौं पुनि मोतिन को कटिबंध तिहारो
लपट्यो मेरे अंग, भयो अहि दंशनवारो ।
करके कर के कंगन औ केयूर गए नसि;
वेणी सों मुरझाय मल्लिकादाम परे खसि ।

यह सोहाग की सेज रही भू माहिं समाई;
द्वारन के पट चौंथि उठे आपहि उघिराई।
सुन्यौं दूर पै फेरि श्वेत वृषभहि मैं हँकरत,
और लख्यों सोइ केतु दूर पै दमकत फहरत।
पुनि वानी सुनि परी 'समय आयो नियराई।'
उठ्यो करेजो काँपि, परी जगि मैं अकुलाई।
इन स्वप्नन को अर्थ याहि या तो मैं मरिहौं
अथवा तजिहौ मोहिं, मृत्यु ते बढ़ि दुख भरिहौं।"

अथवत दिनकर सम आभा मृदु नयनन धारी
रह्यो कुँवर निज दुखित प्रिया की ओर निहारी।
बोल्यो पुनि "हे प्रिये! रहौ तुम धीरज धारे,
यदि धीरज कछु मिलै प्रेम में तुम्हैं हमारे।
चाहै आगम कछू स्वप्न ये होयँ जनावत
औ देवन को आसन होवै डिग्यो यथावत,
औ निस्तार उपाय जगत चाहत कछु जानन
हम तुम पै जो चहै परै राखौ निश्चय मन—
यशोधरा सों रही प्रीति मम जुग जुग जोरी,
औ रहिहै सो सदा, नेकु नहिं ह्वैहै थोरी।
जानति हौ तुम केतो सोचत रहौं राति दिन
या जग को निस्तार जाहि देख्यों आँखिन इन।

समय आयहै ह्वैहै जो कछु होनो सोऊ।
जो कछु हम पै परै सहैं हम तुम मिलि दोऊ।
जो आत्मा मम व्यथित अपरिचित जीवन के हित,
जो परदुख लखि दुखी रहत हौं मैं ऐसो नित,
सोचौ तो, मन मेरो विहरणशील उच्चतर
रहिहै कैसो लगो सदा घर के प्रानिन पर,
जो साथी मम जीवन के, मोको सुखकारी;
जिनमें सब सोँ बढ़ि अभिन्न तुम मेरी प्यारी।
गर्भ माहिं तुम मम शिशु की हौ धारनवारी,
जासु आस धरि मिली देह सोँ देह हमारी।
जब मेरो मन भटकत चारों दिशि जल थल पर
बँध्यो प्रेम में जीवन के या भाँति निरंतर—
उड़ति कपोती बँधी प्रेम मैं ज्यों शिशु के नव—
मन मेरो मँड़राय बसत है आय पास तब।
कारण यह, मैं जानत हौं तुमको सुशील अति,
सब सोँ बढ़ि आपनी, परम कोमल उदारमति।
सो अब जो कछु परै आय तुम पै, हे प्यारी!
करि लीजौ तुम ध्यान श्वेत वृष को वा भारी
औ वा रत्नजड़ी ध्वजा को गड़ जो फहरति;
पुनि रखियो मन माहिं आपने यह निश्चय अति—
सब सोँ बढ़ि कै सदा तुम्हैं चाह्यौं औ चहिहौं,
सब के हित जो वस्तु रह्यौं खोजत औ रहिहौं,

ताहि तिहारे हेतु खोजिहौं अधिक सबन सों;
धीरज यातें धरौ छाँड़ि चिंता सब मन सों।
परै दुःख जो कछू धीर धरियो गुनि यह चित
होय कदाचित् हम दोउन के दुख सों जगहित।
सत्य-प्रेम-प्रतिकार सकै कोऊ जेतो चहि
प्रीति निहोरे जेतो कोउ रसभोग सकै लहि
लहौ सकल तुम आलिंगन में मम, हे प्यारी!
स्वार्थभाव अति अबल प्रेम के बीच बिचारी।
चूमौ मम मुख, पान करौ ये बचन हमारे;
जानौगी तुम और न जाके जाननहारे।
सब सों बढ़ि कै प्रीति करी तुमसों मैं, प्यारी!
कारण, मेरी प्रीति सकल प्राणिन पै भारी।
प्राणप्रिये हे! सुख सों सोओ तुम निधरक अब
हौं बैठो मैं पास तिहारे औ निरखत सब।"

सजल नयन सों सोय रही सो सिसकति रोवति;
'समय गयो अब आय' स्वप्न सो पुनि यह जोवति।
उलटि कुँवर सिद्धार्थ रह्यो नभ ओर निहारी,
चमकत उज्वल चंद्र, विमल फैली उजियारी।
बीच बीच में कतहुँ रजत सी आभा धारे
मिलि कै मानो रहे यहै कहि सारे तारे—

"यहै रैनि सो, गहौ पंथ चाहौ जो हेरो,
सुख वैभव को अपने वा जगमंगल केरो।
चहै करौ तुम राज चहै भटकौ तुम उत इत
मुकुटहीन जनहीन—होय जासोँ जग को हित।"

कह्यो सो "मैं अवसि जैहौं घरी पहुँची आय;
रहे, सोवनहारि! तव ये मृदुल अधर बताय
करन को सो कटै जासोँ जगत को भवरोग;
यदपि मोसोँ और तोसोँ ह्वै न जाय वियोग।

गगन की निस्तब्धता में मोहिं झलकत आज
जगत् में आयों करन हित कौन सो मैं काज।
रहे सबै बताय आयोँ हरन को भवभार।
चहौँ मैं नहिं मुकुट जापै वंशगत अधिकार।

तजत हौँ वे देश जिनको जीततो मैं जाय।
नाहिं मेरो खड्ग खुलि अब चमकिहै तहँ धाय।
रुधिर-सनि रथचक्र मेरे घूमिहैं नहिं घोर
रक्तअंकित करन को मम नाम चारो ओर।

फिरन चाहौँ धरा पै मैं धरि अकलुपित पाँव;
धूरि ह्वैहै सेज मेरी, वास सूनो ठाँव।
तुच्छ तें अति तुच्छ मेरे वस्तु रहिहैं संग।
चुनि पुराने चीथरे ही धारिहौँ मैं अंग।

कोउ दैहै खायहौं सो और व्यंजन नाहिँ।
वास करिहौं गिरिगुहा औ विपिन झाड़िन माहिँ।
अवसि करिहौं मैं यहै, है परत मेरे कान
सकल जीवन को जगत के आर्त्तनाद महान्।

हृदय उमगत है दया सों देखि भवरुज घोर,
दूर जाको करन चाहौं चलै जहँ लौं जोर।
शमन करिहौं याहि, जो कछु उचित शमन उपाय
कठिन त्याग, विराग और प्रयत्न सों मिलि जाय।

हैं अनेकन देव, इनमें कौन सदय समर्थ?
काहु ने देख्यो इन्हैं जो करत सेवा व्यर्थ?
निज उपासक नरन की ये करैं कौन सहाय?
लोग करि आराधना इनकी रहे का पाय?

करत विविध विधान सों पूजा अनेक प्रकार,
धरत हैं नैवेद्य वहु, करि मंत्र को उच्चार।
हनत यज्ञन माहिँ वलि के हेतु पशु विललात
औ उठावैं वड़े मंदिर जहँ पुजारी खात।

विष्णु, शिव औ सूर्य्य की कीनी अनेक पुकार,
पै भले तें भले को नहिँ कियो इन उद्धार।
नहिँ वचायो ताप तें वा जो सिखावनहार
ठकुरसोहाती, भयस्तुति के अनेक प्रकार।

इन उपायन सोँ बच्यो मम बंधु कोउ बिहाल
कठिन रोग, वियोग, नाना क्लेश सोँ विकराल?
कौन जूड़ी और ज्वर सोँ बच्यो या जग आय?
कौन जर्जर-क्षीणकारी जरा सोँ बचि जाय?

भई रक्षा कौन की है मृत्यु सोँ अति घोर?
पर्यो है भवचक्र में नहिँ कौन इनके जोर?
नए जन्मन संग उपजत नए क्लेश अपार;
वासना को वंश बाढ़त अंत जासु विकार।

कौन सी सुकुमारि नारी लह्यो या संसार
कठिन व्रत उपवास को फल, भजन को प्रतिकार?
भई काहू की प्रसव की वेदना कछु थोरि
दही दूर्वा जो चढ़ावति विनय सोँ कर जोरि?

होयँगे कोउ देव नीके, कोउ बुरे इन माहिँ,
किंतु मानव दशा फेरै कोउ ऐसो नाहिँ।
होयँगे निर्दय सदय ज्यों नरन में दरसात,
पै बँधे भवचक्र में सब रहत फेरे खात।

है हमारे शास्त्र को यह वचन सत्य प्रमान
'जन्म को यह चक्र घूमत रहत एक समान।'
होत हैं आरोहक्रम में जीव जो अवदात
कीट, खग, पशु सोँ मनुज ह्वै देवयोनिन जात।

सोइ परि अवरोह में पुनि कीट उष्मज होत ।
हैं जहाँ लौं जीव ते हैं सकल अपने गोत ।
शाप तें या मनुज को कहुँ होय जो उद्धार,
परै हलको सकल प्राणिन को अविद्या-भार,

जासु छाया है दिखावति त्रास सब को घोर,
जीवपीड़ा जासु क्रीड़ा निपट निठुर कठोर।
होति कैसी बात, हा! जो सकत कोउ बचाय!
अवसि ह्वैहै कहुँ न कहुँ तो शरण और उपाय।

रहे पीड़ित शीत सों तौ लौं मनुज भरपूर
कियो जौ लौं नाहिं कोऊ कठिन चकमक चूर;
और अरणी मथि निकासी अग्नि की चिनगारि
रही इनमें लुकी जो वहु आवरण पट डारि।

रहे अस्फुट शब्द सों विंवियात नर जग माहिं
वर्ण के संकेत जौ लौं कोउ निकास्यो नाहिं।
रहे टूटत श्वान सम ते मांस ऊपर जाय
नाहिं रोप्यो बीज जौ लौं खेत कोउ बनाय।

लही जो कछु वस्तु जग में है मनुज ने चाहि
मिली अपनी खोज, त्याग, प्रयत्न सों है वाहि ।
करै भारी त्याग कोऊ और खोजै जाय
तो कदाचित् त्राण को मिलि जाय कोउ उपजाय ।

जो सुखी संपन्न होवै लहि सकल सुखसाज;
जन्म जाको होय करिबे हेतु जग में राज;
होय जीवन नाहिं भारी जाहि काहु प्रकार;
जो लहत आनंद ही सब भांति या संसार;

प्रेम के रसरंग में जो सनो तृप्तिविहीन;
जो न होवै जराजर्जर, शिथिल, चिंतालीन;
दुःख-आश्रित विभव जग के होयँ करत हुलास;
एक सों बढ़ि एक जाको सुलभ भोग विलास;

होय मो सम जो, न जाको रहै कोऊ क्लेश;
औ न अपनी रहै चिंता सोच को कछु लेश;
सोच केवल जाहि परदुख देखि कै दिन राति;
सोच केवल यहै 'मैं हूँ मनुज सबकी भाँति,'

होय जो ऐसो, तजन हित होय एतो जाहि;
त्यागि सर्वस देय जो निज मनुजप्रेम निबाहि;
खोज में पुनि सत्य के जो लगै आठो याम
और मुक्ति रहस्य खोजै होय सो जा ठाम—

नरक में वा स्वर्ग में चाहै छिपो जहँ होय,
चहै अंतस् में सबन के गुप्त होवै सोय—
दिव्य दृष्टि गड़ाय जो सो देखिहै चहुँ ओर
अवसि टरिहै कबहुँ कतहूँ आवरण यह घोर,

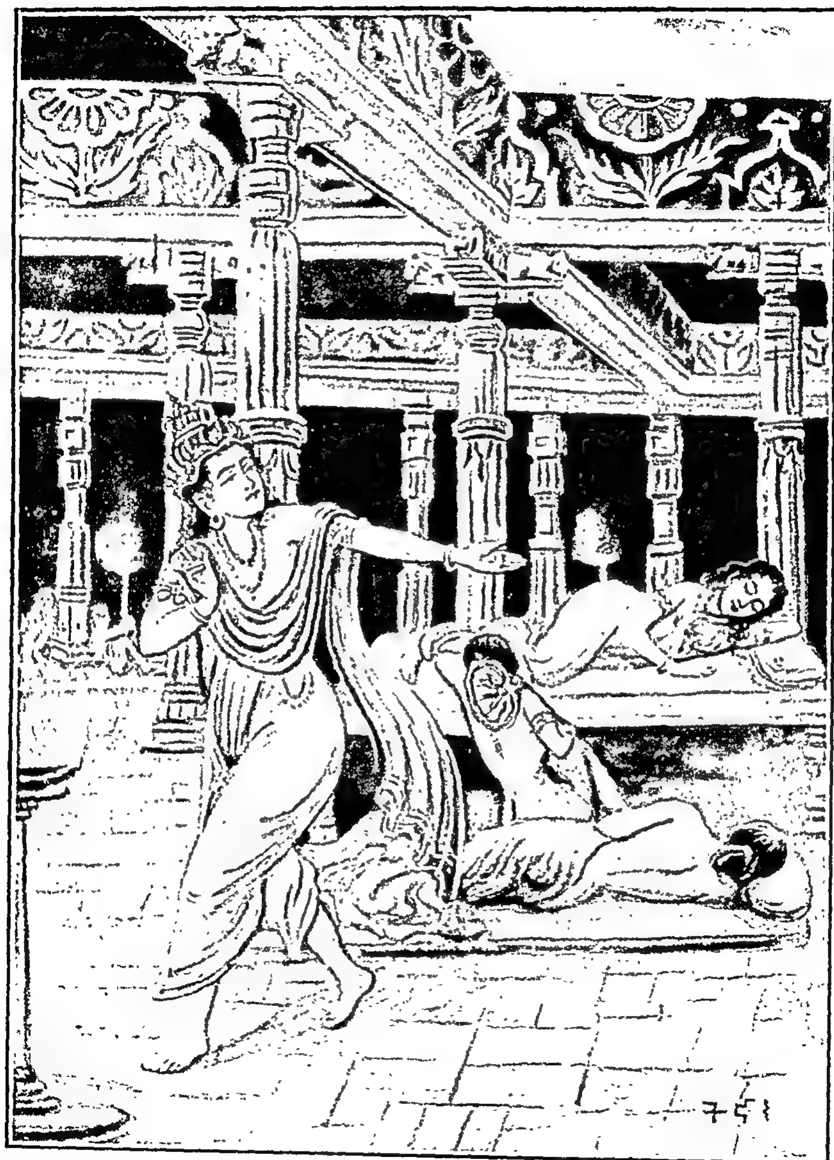
अवसि खुलिहै मार्ग कहुँ, जहँ थके पाँव पधारि
पायहै निस्तार को सो कोउ द्वार निहारि।
जासु हित सब त्यागिहै सो अवसि मिलिहै ताहि
और मृत्युंजय कदाचित् होयहै सो चाहि ।

करौं मैं यह, त्यागिवे हित जाहि एतो राज ।
हिये कसकति पीर सो जो सहत मनुजसमाज ।
हैं जहाँ जो कछु हमारो—कोटिगुन हू और—
करत हौं उत्सर्ग जासों होय सुख सब ठौर ।

होहु साक्षी आज गगन के सारे तारे !
और भूमि जो दबी भार सौं आज पुकारे !
त्यागत हौं मैं आज आपनो यह यौवन, धन,
राजपाट, सुख भोग, बंधु, बांधव औ परिजन,
सबसौं बढ़ि भुजपाश, प्रिये ! तव तजत मनोहर,
तजिबो जाको या जग में है सब सौं दुष्कर ।
पै तेरो निस्तार जगत् के सँग बनि ऐहै,
बाहू को जो गर्भ बीच तव कछु दिन रैहै—
है जो फल लहलहे प्रेम को प्रथम हमारे—
पै देखन हित ताहि रहौं तो धैर्य्य सिधारे ।
हे पत्नी, शिशु, पिता और मेरे प्रिय पुरजन !
कछुक दिवस सहि लेहु दुःख जो परिहै या छन,

जासोँ निर्मल ज्योति जगै सो अति उजियारी,
लहैं धर्म को मार्ग सकल जग के नर नारी ।
अब यह दृढ़ संकल्प ; आज सब तजि मैं जैहौं ।
जब लौं मिलिहै नाहिं तत्त्व सो, नहिँ फिरि ऐहौं ।"

'योँ कहि नयनन लाय लियो निज प्यारी को कर ।
नेहभरी पुनि दीठि विदा हित डारी मुख पर ।
करि परिक्रमा तीन सेज की पाँव वढ़ाए,
धकधकाति छाती को कर सोँ दाेउ दवाए ।
कह्यो "कवहुँ अव नाहिँ सेज पै या पग धरिहौं ।
छानत पथ की धूरि धरातल वीच विचरिहौं ।"
तीन वेर हठि चल्यो, किंतु सो फिरि फिरि आयो ;
ऐसो वाके रूप प्रेम सोँ रह्यो वँधायो !
अंत सीस पट नाय, पलटि आगे पग डारी
आयो जहँ सहचरी सकल सोवति सुकुमारी,
पाय निशा मनु वँधी कमलिनी इत उत सोहति ।
गंगा औा गौतमी अधिक सव सोँ मन मोहति ।
पुनि तिनकी दिशि हेरि कह्यो "सहचरी हमारी !
तुम सुखदायिनि परम, तजत तुमको दुख भारी ।
पै जो तुमको तजौं नाहिं तो अंत कहा है ?
जरा, क्लेश अनिवार्य्य, मरण विकराल महा है ।



देखौ, जैसे परी नींद में हौ या छन सब
परिहौ याही भाँति मृत्यु गरजति ऐहै जब ।
सूखि गयो जब कुसुम कहाँ फिर गंध रूप तब ?
चुक्यो तेल जब, ज्योति दीप की गई कहाँ सब ?
हे रजनी! तुम और नींद सों चापौ पलकन,
अधरन राखौ मूँदि और तुम इनके या छन,
जासों नयनन नीर और मुख वचन दीनतर
राखैं मोहिं न रोकि, जावँ मैं तजि अपनो घर ।
जेतोई सुख मोद लह्यों मैं इनसों भारी
तेतोई हौं होत सोचि यह बात दुखारी—
मैं, ये औ नर सकल भरत जड़ तरु सम जीवन,
लहत सहत हैं जो बसंत औ शीत ताप तन ।
कबहूँ पात झुरात, झरत, हैं लहलहात पुनि;
कबहुँ कुठारप्रहार मूल पै होत परत सुनि ।
नहिं जीवन या रूप बितैहौं या जग माहीं ।
दिव्य जन्म मम, जाय व्यर्थ सो ऐसो नाहीं ।
बिदा लेत हौं आज, अस्तु, हे सकल सुहृद जन!
जौ लौं है सुखसार-पूर्ण मेरो यह जीवन
है अर्पण के योग्य वस्तु सो, यातें अर्पत ।
खोजन हित हौं जात मुक्ति औ गुप्त ज्योति सत ।

कढ़यो मंद पग धरत कुँवर वा निशि में रहि रहि,
तारक रूपी नयन नेह सों रहे जासु चहि।
शीतल श्वाससमीर आय चूम्यो फहरत पट,
जोह्यो नाहिं प्रभात सुमन खोल्यो सौरभ चट।
हिमगिरि सों लै सिंधु ताईं वसुधा लहरानी,
नव आशा सों तासु हृदय उमग्यो कछु जानी।
मधुर दिव्य संगीत गगन में परयो सुनाई।
दमकि उठीं सब दिशा, देवगण सों जो छाई।
गणन लिए निज संग, मढ़े रत्नन सों भारी
चारो दिक्पति आय द्वार पै वारी वारी
ताकत हैं कर जोरि कुँवर को मुख, जो ठाढ़ो
सजल नयन नभ ओर किए, हित धरि हिय गाढ़ो

बाहर आयो कुँवर, पुकारयो "छंदक, छंदक!
उठौ, हमारो अश्व अबै कसि लाओ कंथक।"

फाटक ही पै रह्यो सारथी छंदक सोवत;
धीरे सों उठि कह्यो कुँवर मुख जोवत जोवत—
"कहा कहत हौ, नाथ, राति में या अँधियारी
जैहौ तुम कित, कुँवर! होत विस्मय मोहिं भारी।"

"बोलौ धीमे, लाओ मेरे चपल तुपारहि;
घरी पहुँचि सो गई तजौं या कारागारहि,

जहाँ रहत मन बँधो, तत्व ढिग पहुँचि न पावत ।
अब मैं खोजन जात लोक हित ताहि यथावत् ।"

कह्यो सारथी "हाय, कुँवर! यह कहा करत अब ?
कहे वचन जो गणक कहा झूठे ह्वैहैं सब ?
शुद्धोदनसुत करिहै नाना देशन शासन,
राजन को ह्वै महाराज बसिहै सिंहासन ।
कहा छाँड़ि धनधान्यपूर्ण धरती सो दैहै ?
तजि सब भिक्षापात्र कहा अपने कर लैहै ?
जाके ऐसो स्वर्ग सरिस रसधाम मनोहर
भटकत फिरिहै कहा अकेलो सूने पथ पर ?"

उत्तर दीनो कुँवर "इतै आयों याही हित,
सिंहासन हित नाहिं, सखा! यह लेहु धारि चित ।
चाहत हौं मैं राज्य सकल राज्यन सों भारी ।
लाओ कंथक तुरत, होहुँ वाको अधिकारी ।"

बोल्यो छंदक "कृपानाथ! हम कैसे रहिहैं ?
महाराज, तव पिता, शोक यह कैसे सहिहैं ?
पुनि जाके तुम जीवनधन वाको का ह्वैहै ?
करिहौ कहा सहाय जबै जीवन नसि जैहैं ?"

उत्तर दीनो कुँवर "सखा! यह प्रेम न साँचो;
जो निज आनँद हेतु प्रेम निश्चय सो काँचो ।

पै इनसों मैं प्रेम करत निज आनँद सोँ बढ़ि—
औ तिनहू के आनँद सोँ बढ़ि—यातें अब कढ़ि
जात उधारन हेतु इन्हैं औ प्राणिन को सब ।
लाओ कंथक तुरत, विलंब न नेकु करौ अब ।"

"जो आज्ञा" कहि गयो अश्वशाला में छंदक,
तुरत निकासी बागडोर चाँदी की झकझक ।
तंग पलानी कसि कंथक को लायो बाहर
फाटक ढिग, जहँ कुँवर रह्यो ठाढ़ो वा अवसर ।
देखि प्रभुहि निज अति प्रसन्न ह्वै हय हिहनानो,
निरखत ताकी ओर बढ़ावत मुहँ नियरानो ।
सोवत जे जे रहे गई यह ध्वनि तिन लौँ, पर
रखे देवगण मूँदि कान तिनके वा अवसर ।

थपथपाय कर कुँवर कंठ पै वाके फेरे,
बोल्यो पुनि "अब धीर धरौ, हे कंथक मेरे !
आज मोहिं लै चलौ जहाँ लौँ बनै निरंतर,
सत्य खोजिबे हेतु कढ़त हौं आज छाँड़ि घर ।
कहाँ खोज को अंत होयहै, यह नहिं जानत ;
बिनु पाए नहिं अंत यहै निश्चय मन ठानत ।
सो अब साहस करौ करारो, तुरग हठीले !
खड्गधार जो बिछै पंथ पग परैं न ढीले ।

थमै न तेरो वेग, रुकै ना गति कहुँ तेरी,
खाई खंदक परैं, चहै पत्थर की ढेरी ।
जा छन बोलौं 'बढ़ौ' पवन हू पाछे पारौ,
अनलतेज औ वायुवेग तुम या छन धारौ ।
पहुँचाओ निज प्रभुहि, होयहौ तुमहू भागी
महत्कार्य की महिमा के या जग हित लागी ।
चलत आज मैं, गुनौ, नाहिं केवल मनुजन हित
पै सब प्राणिन हेतु सहत दुख जो हम सम नित
किंतु सकत कहि नाहिं, मरत निशि दिन यौं ही सब ।
अस्तु, पराक्रम सहित प्रभुहि लै चलौ तुरत अब'' ।

धीरे सों पुनि उछरि पीठ पै वाके आयो,
केसर पै कर फेरि कंठ वाको सहरायो ।
बढ़यो अश्व अब, परीं टाप पथरन पै वाकी,
बागडोर की कड़ी हिलीं चमकीं अति बाँकी ।
पै 'टप टप' औ खनक नाहिं कोऊ सुनि पाई ,
आय देवगण दिए मार्ग में सुमन बिछाई ।
जब तोरण के निकट भूमि पै चलि पग डारे
माया के पट विविध यक्षगण तहाँ पसारे ।
या विधि आहट बिना कुँवर तोरण पै आए,
पीतर के तिहरे कपाट जहँ रहे भिड़ाए ।

सौ मनुष्य जब लगैं खुलैं जो तब कहुँ जाई
खुले आप तें आप सरकि, नहिं परे सुनाई ।
याही विधि खुलि परे बाहरी फाटक सारे
ज्यों ही राजकुमार पावँ तिनके ढिग धारे ।
रक्षकगण जनु मरे परे ऐसे सब सोए,
डारि ढाल तरवार दूर, तन की सुध खोए ।
ऐसी बही बयार कुँवर के आगे ता छिन
परे मोहनिद्रा में लीने श्वास जहाँ जिन ।

गयो गगनतट शुक्र, बह्यो जब प्रात-समीरन,
लहरन लागी कछुक अनामा पाय झकोरन,
खींचि बाग चट कुँवर कूदि महि पै पग धारे,
कंथक को चुमकारि, ठोंकि मृदु वचन उचारे ।
छंदक सों पुनि प्रेम सहित बोल्यो कुमारवर
"जो कछु तुमने कियो आज वाको फल सुंदर
पैहौ तुम औ पैहैं जग के सब नारी नर ।
धन्य भये तुम आज जगत में, हे सारथिवर !
देखि तिहारो प्रेम प्रेम मेरो अति तुम पर,
अब मेरे या प्यारे अश्वहिं लै पलटौ घर ।
लेहु सीस को मुकुट, राजपरिधान हमारे
जिन्हैं न कोउ अब मोहिं देखिहै तन पै धारे ।

रत्नजटित कटिबंध सहित यह खड्ग लेहु मम
औ ये लाँबी लटैं काटि फेंकत जिनको हम ।
दै यह सब तुम महाराज सों कहियो जाई
"मेरी सुधि अब राखैं तौलौं सकल भुलाई
जौ लौं आऊँ नाहिं राज सों बढ़ि लहि संपति,
यत्न योग बल, विजय पाय, लहि बोध विमल अति ।
यदि पाऊँ यह विजय होय वसुधा मेरी सब
हित नाते, उपकार निहोरे; यहै चहत अब ।
गति मनुष्य की होनी है मनुष्य के हाथन ।
पच्यो न जैसो कोउ होय पचिहौं दै तन मन ।
जग के मंगल हेतु होत हौं जग तें न्यारे,
पैहौं कोऊ युक्ति मुक्ति की यह चित धारे ।"

———

पंचम सर्ग

प्रव्रज्या

जहँ राजगृह है राजधानी लसति विरि वन सों घने
तहँ पाँच पर्वत परत पावन पास पास सुहावने—
अति सघन ताल-तमाल-मंडित एक तो 'वैभार' है;
दूजो 'विपुलगिरि', वहति जा तर पातरी सरिधार है;

पुनि सघन छाया को 'तपोवन' जहँ सरोवर हैं भरे,
प्रतिविंव श्याम शिलान के दरसात हैं जिनमें परे;
ऊपर चटानन सों शिलाजतु रसत जहाँ पसीजि कै,
नीचे सलिल को परसि रहि रहि डार झूमति भीजि कै;

चलि अग्निदिशि की ओर सुंदर 'शैलगिरि' मन को हरै,
उठि 'गृध्रकूट' सुशृंग जाको दूर ही सों लखि परै;
प्राची दिशा की ओर सोहत 'रत्नगिरि' निखरो खरो,
जो विटप वीरुध सों हरो, बहु रूप रत्नन सों भरो।

पथ विकट पथरीलो परै जो फेर को आश्रो धरे,
पग धरत वाड़न में कुसुम के, आम जामुन के तरे,

पै बचत झाड़िन सोँ कटीली बेर की औ बाँस की
औ चढ़त टीलन पै, कढ़त पुनि भूमि पै सम पास की।

नव कलित काननकुसुम वह जो अचलअंचल ढार है,
चलि देखिए वटकुंज भीतर जो गुफा को द्वार है।
या सरिस पावन और थल नहिँ सकल भूतल पाइए;
करि विमल मन सब भाँति आदर सहित सीस नवाइए।

या ठौर श्रीभगवान बसि काटत कराल निदाघ को,
जलधारमय घनघोर पावस, कठिन जाड़ो माघ को।
सब लोक हित धरि मलिन बसन कषाय कोमल गात पै
माँगे मिलति जो भीख पलटि पसारि पावत पात पै।

तृण डासि सोवत रैन में घर बार स्वजन विहाय कै।
हुहुँआत चहुँ दिशि स्यार, तड़पत बाघ बनहिँ कँपाय कै।
या भाँति जगदाराध्य बितवत ठौर या दिन रात हैं।
सुखभोग को सुकुमार तन तप सोँ तपावत जात हैँ।

व्रत नियम औ उपवास नाना करत, धारत ध्यान हैँ;
लावत अखंड समाधि आसन मारि मूर्ति समान हैँ।
चढ़ि जानु ऊपर कूदि कबहूँ धाय जाति गिलाय हैं।
कन चुनत ढीठ कपोत कर ढिग कबहुँ कंठ हिलाय हैँ।

खरी दुपहरी में बैठत प्रभु ध्यान लगाए।
सन सन करती धरा, धूप धधकति दव लाए।
गन गन नाचत परत सकल वनखंड लखाई,
पै प्रभु जानत नाहिं जात कित दिवस बिहाई।
ढरत दीप्त अंगारबिंब सम गिरितट दिनकर;
पसरति आभा अरुण खेत औ खरियानन पर।
जुगजुगात पुनि जहँ तहँ निकसत नभ में तारे।
मिलि कै मंगलवाद्य उठत बजि पुर के सारे।
छाय जाति पुनि निशा, जीव जगके सब सोवत।
केवल कौशिक रटत कहूँ, कहुँ जंबुक रोवत।
पै प्रभु ध्याननिमग्न रहत हैं आसन धारे,
या जीवन को तत्व कहा सोचत मन मारे।
आधीराति निखंड होति, जग थिरता धारत।
केवल हिंसक पशु कढ़ि कै कहुँ फिरत पुकारत—
ज्यों मन के अज्ञानविपिन भय द्वेष पुकारत,
काम क्रोध मद लोभ घोर विचरत, नहिँ हारत।
सोवत पछिले पहर घरी तेती ही प्रभुवर
अष्टमांश पथ जेती में कढ़ि जात निशाकर।
पौ फटिबे के प्रथम परत उठि प्रभु पुनि प्रति दिन,
फटिक-शिला पै आय रहत ठाढ़े नित बहु छिन।
सोवति वसुधा को नयनन भरि नीर निहारत,
सब जीवन की दशा देखि, गुनि हिय में हारत।

पुलकित पुनि लखि परत लहलहे खेत मनोहर
चुंबन सोँ अनुरागवती ऊषा के सुंदर ।
प्राची आशा कहन लगति दिनराज अवाई;
पहले केवल धुंध सरीखो परत लखाई ।
किंतु पुकारै अरुणचूड़ जौ लौँ पुर भीतर
आभा निखरति शुभ्र रेख सी शैलशीर्ष पर ।
लागति पसरन होति शुभ्रतर सो अव क्रम क्रम
देखत देखत होति स्वर्णपीताभ धार सम ।
अरुण, नील औ पीत होत घनखंड मनोरम,
काहू पै चढ़ि जाति सुनहरी गोट चमाचम ।
सव जग जीवनमूल प्रतापी परम प्रभाकर
दिनपति प्रगटत धारि ज्योतिपरिधान मनोहर ।

ऋषि समान करि नित्यक्रिया सवितहि सिर नावत;
लै पुनि भिक्षापात्र पायँ पुर ओर वढ़ावत ।
वीथी वीथी फिरत यती को वानो धारे,
जो कछु जो दै देत लेत सो हाथ पसारे ।
भिक्षा सोँ भरि जात पात्र सो जहाँ पसारत,
'महाराज! यह लेहु' किते रहि जात पुकारत ।
देखि दिव्य सो रूप सौम्य, लोचनसुखकारी
जहँ के तहँ रहि जात ठगे से पुरनरनारी ।

दूर दूर सों पुत्रवती बहु धावति आवैं,
प्रभु के पायँन पारि सिसुन, बहु बार मनावैं ।
लेति चरणरज कोउ, कोउ पट सीस लगावति ।
अति मीठे पकवान और जल कोऊ लावति ।

कबहुँ कबहुँ प्रभु जात रहत अति मधुर मंद गति,
दिव्य दया सों दीप्त, ध्यान मैं भए लीन अति ।
रूप अनूप लुभाय लाय टक रहैं कुमारी,
प्रेम भक्ति सों भरी दीठि निज तिन पै डारी ।
मानो रूप समाय रह्यो जो नयनन मैं अति
सम्मुख लखि रहि जाति चाह सों ताको चितवति ।
पै पकरें निज पंथ जात प्रभु सीस नवाए,
धारे वसन कषाय, भीख हित कर फैलाए ।
मृदु वचनन सों करि सब को परितोष यथावत्
फिरत गिरिव्रज ओर, आय पुनि ध्यान लगावत ।
जेते जोगी जती बसत तिनके ढिग बहु छिन
बैठि सुनत बहु ज्ञान, सत्यपथ पूछत प्रति दिन ।

शांत कुंजन बसत तापस रत्नगिरि की ओर हैं,
गनत हैं या तनहिं जो चैतन्य को रिपु घोर हैं ।
कहत इंद्रिय प्रबल पशु हैं, लाय वश में मारिए,
क्लेश दै बहु भाँति इनको दमन यों करि डारिए

क्लेश की सब वेदना मरि जाय आपहि आपही,
ताप सोँ तन नहिं तचै औ शीत सोँ काँपै नहीं।
करत नाना साधना योगी यती मन लाय कै,
त्यागि जनपदवास निर्जन बीच धाम बनाय कै।

कतहुँ कोऊ ऊर्ध्वबाहु दिनांत लौँ ठाढ़े रहैं;
जोड़ तें भुजदंड दोऊ मोड़ ना कबहूँ लहैं,
सूखि कै अति छीन औ गतिहीन ह्वै तन में नढ़े
उकठि मानो रूख तें द्वै खूथ ऊपर को कढ़े।

कीलि राखे करन को कोउ काठ मारि कठोर हैं;
भालु के से बढ़ि रहे नख आँगुरिन के छोर हैं।
लोह-कील बिछाय कोऊ बसत आसन मारि कै।
कोउ ऐंठत अंग, कोउ पंचाग्नि तापत वारि कै।

पाथरन सोँ मारि कोऊ जारि तन जर्जर करे,
राख माटी पोति तन पै चीथरे चीकट धरे।
जपत कोउ शिवनाम बैठि मसान पै दिनरात हैं,
स्यार जहँ शव नोचि भागत, गीध बहु मँड़रात हैं।

कोउ करि मुख भानु दिशि पग एक पै ठाढ़ो रहै,
नाहिँ अथवत देव जौ लौँ अन्नजल नहिँ कछु लहै।
सहत साँसति सतत योँ, सब मांस गलि तन को गई,
हाड़ सोँ सटि चाम सूखो, ताँत सी नस नस भई।

करत अनशन व्रत कोऊ, कोउ कृच्छ्र चांद्रायण करैं।
धूरि में कोउ जाय लोटत, राख कोउ मुहँ में भरैं।
करत रसना सुन्न कोऊ जड़ी बूटी चावि हैं;
स्वाद की सब वासना या भाँति पावत दावि हैं।

काटि कर पग, छाँटि डारी जीभ कोऊ आपनी;
कोंचि आँखिन, नोचि कानन, कनक सी काया हनी,
विकल अंगविहीन, गतिहत, मूक, बहरो, आँधरो,
जियत मृतक समान ह्वै पलपिंड सो भू पै परो।

कायदंड कठोर जो सहि लेत हैं सारे यहीं
कठिन यम की यातना रहि जाय पुनि तिनको नहीं।
क्लेश सारे जीति सुंदर देवगति ते लहत हैं
वेद शास्त्र पुराण आगम बात ऐसी कहत हैं।

जाय वचन भगवान एक सों यों कहे
"अहो! क्लेश यह घोर आप तो सहि रहे।
बीते मास अनेक मोहिँ या ठौर हैं;
देखे आप समान तपत बहु और हैं।

है या जीवन माहिँ दुःख थोरो कहा
औरहु विढ़वत आप क्लेश जो यह महा?"
बोल्यो तापस "और कहा हम जानिहैं?
ग्रंथन में जो लिखो चलत सो मानि हैं।

जो कोउ तनहिं तपाय क्लेश ही जानिहै
और मरण विश्रामरूप करि मानिहै
क्लेशभोग सों पापलेश नसि जायहै,
निखरि जीव ह्वै शुद्ध, लोक शुभ पायहै,

निकसि घोर या तापपूर्ण भवकूप तें
लोकन बीच विचरिहै दिव्य स्वरूप तें,
भाँति भाँति सुख भोग भोगिहै बसि तहाँ
जिनको ह्याँ अनुमान सकत कोउ करि कहाँ ?

कह्यो श्रीसिद्धार्थ "वह जो शुभ्र मेघ दिखात,
इंद्र-आसन को मनो पट स्वर्णमय दरसात,
बातक्षुब्ध पयोधि सों सो उठो नभ में जाय,
अश्रुबिंदु समान खसि खसि अवसि गिरिहै आय;

कीच सों सनि, धुनत सिर, बहि नदी नारन माहिँ
जाय परिहै जलधि में पुनि अवसि संशय नाहिँ।
कहा याही रूप को नहिं स्वर्ग को सब भोग,
जाहि अर्जन करत मुनिजन साधि तप औ योग ?

चढ़त जो सो गिरत, छीजत लेत जाहि बिसाहि,
यह अटल व्यवहार जग में विदित है नहिं काहि ?
रक्त तन को गारि यों क्रय करत हौ सुरधाम,
पूजिहै जब भोग सोइ भवचक्र पुनि अविराम।"

"कौन जानै होय ऐसो, सकत कहि किहि भाँति ?
निशा पै पुनि दिवस आवत, श्रम अनंतर शांति।
रक्त पल की देह पै या हमैं ममता नाहिं
रहति बाँधे जीव को जो विषयबंधन माहिं।

जीव के हित दाँव पै हम धरत देवन पास
क्षणिक जीवनक्लेश यह चिरकाल सुख की आस।"
कुँवर बोले "सोउ सुख की अवधि है पै, भ्रात !
वर्ष कोटिन लौं रहै, पै अंत ह्वै ही जात।

अंत जो नहिं तो कहा हम लेयँ ऐसो मानि
है कहूँ या रूप जीवन जासु होति न ग्लानि,
भिन्न जो सब भाँति जाको होत नहिं परिणाम ?
हैं कहा, ये देव सारे नित्य निज निज धाम ?"

कह्यो योगिन "देव हू नहिं नित्य या जग माहिं
नित्य केवल ब्रह्म है, हम और जानत नाहिं।"

कह्यो बुद्ध भगवान् "सुनो, हे मेरे भाई !
ज्ञानवान्, दृढ़चित्त परत हौ हमैं लखाई।
क्यों तुम अपनी हाय दावँ पै देत लगाई
ऐसे सुख के हेतु स्वप्न सम जो नसि जाई ?
आत्मा को प्रिय मानि देह यों अप्रिय कीनी,
ताड़न करि बहु ताको तुम यह गति करि दीनी

धारन हू में है समर्थ वा जीवहि नाहीं
खोजत जो निज पंथ, रह्यो अड़ि बीचहि माहीं।
ज्यों कोउ तीखो तुरग बढ़त जो आपहि पथ पर
खाय खाय कै एड़ भयो बीचहिं मैं जर्जर।
ढाहत हौ क्यों भवन जीव को यह बरिआईं,
पूर्व कर्म अनुसार बसे हम जामैं आई,
जाके द्वारन सों प्रकाश कछु हम हैं पावत,
सूझत है यह हमैं दीठि निज जबै उठावत
सुप्रभात कब होय घोर तम पुंज नसाई,
सुंदर, सूधो, सुगम मार्ग कित तें ह्वै जाई।"

योगी बोले हारि "पंथ है यहै हमारो;
चलिहैं यापै अंत ताईं, सहिहैं दुख सारो।
जानत यातें सुगम मार्ग यदि होहु, बताओ
नातौ बस, आनंद रहौ, इत ध्यान न लाओ।"

बढ़यो आगे खिन्नमन सो देखि कै यह बात,
मृत्युभय नर करत ऐसो भय करत भय खात;
प्रीति जीवन सों करत यों प्रीति करत सकात;
करत व्याकुल ताहि, तप की सहत साँसति गात।
करन चहत प्रसन्न या विधि देवगणहिं रिझाय,
सकत देखि प्रसन्न मानव सृष्टि जो नहिं, हाय!

चहत नरकहि न्यून करिबो नरक आप बनाय।
मानि तप उन्माद में ये रचत मुक्ति उपाय!

बोलि उठ्यो सिद्धार्थ "अहो! वनकुसुम मनोहर!
जोहत कोमल खिले मुखन जो उदित प्रभाकर,
ज्योति पाय हरपाय श्वाससौरभ संचारत,
रजत, स्वर्ण, अरुणाभ नवल परिधान सँवारत,
तुम में तें कोउ जीवन नहिं माटी करि डारत,
नहिं अपनो हठि रूप मनोहर कोउ बिगारत!
एहो, ताल! विशाल भाल जो रह्यो उठाई,
चाहत भेदन गगन, पियत सो पवन अघाई,
शीतल नीरधि नील अंक जो आवति परसति
मंजु मलयगिरि गंधभार भरि मंद मंद गति।
जानत ऐसो भेद कौन जासों, हे प्रिय द्रुम!
अंकुर तें फलकाल ताईं हौ रहत तुष्ट तुम?
पंख सरीखे पातन सों मर्मर ध्वनि काढ़त,
अट्टहास सों हँसत हँसत तुम जग में बाढ़त।
तरुडारन पै विहरनहारे, हे विहंगगन!
—शुक, सारिका, कपोत, शिखी, पिक, कोकिल, खंजन—
तिरस्कार निज जीवन को नहिं तुमहुँ करत हौ,
अधिक सुखन की आस मारि तन मन न मरत हौ।

पै प्राणिन में श्रेष्ठ मनुज जो बधत तुम्हैं गहि,
ज्ञानी बोलत रक्तपात विच पोसी मति लहि।
सोइ बुद्धि लै हैं प्रवृत्त ये नर वहुतेरे
आत्मक्लेश दैवे में नाना भाँतिन केरे"।

कहत यों प्रभु शैलतट-पथ धरे गे कछु दूरि।
खुरन के आघात सों तहँ उठति देखी धूरि।
झुंड भारी भेड़ छेरिन को रह्यो है आय;
ठमकि पाछे दूब पै कोउ देति मुखै चलाय।

जितै झलकत नीर, गूलरलसी लटकति डार
लपकि ताकी ओर धावैं छाँड़ि पथ द्वै चार,
जिन्हैं वहकत लखि गड़रियो उठत है चिल्लाय
लकुट सों निज हाँकि पथ पै फेरि लावत जाय।

लखी प्रभु इक भेड़ आवति युगल बच्चन संग,
एक जिनमें ह्वै रह्यो है चोट सों अति पंग।
छूटि पाछे जात, रहि रहि चलत है लँगरात;
थके नान्हें पाँव सों है रक्त बहत चुचात।

ठमकि हेरति ताहि फिरि फिरि तासु जननि अधीर;
बढ़त आगे बनत है नहिं देखि शिशु की पीर।
देखि यह प्रभु लियो बढ़ि लँगरात पसुहि उठाय;
लादि लीनों कंध पै निज करन सों सहराय

कहत यों "हे ऋणदायिनि जननि! जनि घबराय,
देत हौं पहुँचाय याको जहाँ लौं तू जाय।
पशुहु की इक पीर हरिबो गुनत हौं मैं आज
योग औ तपसाधना सों अधिक शुभ को काज।"

यढ़ि चरावनहार दिशि प्रभु बहुरि बूझो बात
"जात ऐसी धूप में कित लिए इनको, भ्रात?"
दियो उत्तर सबन "आज्ञा मिली है यह आज,
मेप अज सौ बीछि कै लै चलौ बलि के काज।

देवपूजन राति करिहैं महाराजधिराज।
होत हैं या हेतु नृप के भवन नाना साज।"
"चलत हमहूँ" बोलि यों प्रभु चले धीरज लाय
धूप में वा संग तिनके पशुहि गोद उठाय।

स्वेदकणिका धूरि छाए भाल पै दरसाति;
लगी पाछे जाति रहि रहि भेड़ सो मिमियाति।

किसा गोतमी

चलत यों सब जाय पहुँचे एक सरिता-तीर।
मिली तरुणी एक खंजननयन धारे नीर।

लगी प्रभु सोँ कहन योँ कर जोरि करत प्रणाम
"तुम्हैं चीन्हति हौं, प्रभो ! तुम सोइ करुणाधाम

जो धरायो धीर मोकोँ वा कुटी में जाय
जहाँ इकली शिशु लिए मैं रही दिनन विताय।
रह्यो फूलन वीच घूमत एक दिन सो वाल;
रह्यो ढिग नहिं कोउ; लिपट्यो आय कर सोँ व्याल।

लग्यो खेलन ताहि लै सो मारि बहु किलकार;
काढ़ि दुहरी जीभ विषधर उठ्यो दै फुफकार।
हाय ! पीरो परो वाको अंग सव छन माहिँ;
गयो हिलिवो डोलिवो, थन धर्यो मुख में नाहिँ।

कहन लाग्यो कोउ याको विष गयो अव छाय;
कोउ बोल्यो 'सकत याको नाहिँ कोउ वचाय।'
किंतु कैसे वनै खोवत प्राणधन निज, हाय !
झाड़ फूँक कराय, देवन थकी सकल मनाय।

किए जतन अनेक खोलै आँखि सो शिशु फेरि,
मुदित 'माय' पुकारि वोलै कछुक मो तन हेरि।
गुन्योँ मैं नहिं सर्प को है दंश अधिक कराल;
नाहिं अप्रिय काहु को है नेकु मेरो लाल।

ठानि यासों वैर काहे साँप लैहै प्रान ?
खेल में क्यों याहि डसिहै, जानि बाल अजान ?
कह्यो कोउ कोउ "बसत गिरि पै सिद्ध एक महान ;
जाय ता ढिग देखु तौ करि सकैं कछु कल्यान।"

सुनत धाई पास, प्रभु ! तव विकल कंपितगात ;
दिव्य दर्शन पाय परस्यों पुलकि पद जलजात ।
बिलखि शिशु तहँ डारि, दीनो तासु मुखपट टारि,
'करिय कछु उपचार' प्रभु ! यों विनय कीनी हारि।

करी मोपै दया, भगवन् ! नाहिं टारयो मोहिं
परसि शिशु भरि नीर नयनन कह्यो मो तन जोहि

"हे भगिनि ! जानत जतन जो मैं देत तोहि सुनाय,
उपचार तेरो और तेरे शिशुहु को ह्वै जाय,
पै सकै जो तू लाय जो मैं देत तोहि बताय,
है कहत जो कछु वैद्य, रोगी देत ताहि जुटाय।

माँगि घर सों काहु के दे लाल सरसों लाय ;
ध्यान रखि या बात को तू जहाँ माँगन जाय
लेय वा घर सों न तू जहँ मरो कोऊ होय—
पिता, माता, बहिन, बालक, पुरुष अथवा जोय !

देय सरसों लाय ऐसी, उठै तो तव वाल,
कही मोसों रही प्रभुवर वात यह वा काल ।"
कह्यो मृदु मुसुकाय प्रभु "हे किसा गोतमि ! तोहि
कही मैंने रही ऐसी वात, सुधि है मोहिं ।

मिली सरसों तोहि ऐसी कतहुँ देय वताय।"
बिलखि वोली नारि सो भगवान के गहि पाय

"मरे शिशुहि गर वाँधि फिरी मैं सकल ग्राम वन,
द्वार द्वार पै माँगी सरसों धीर धारि मन ।
माँगति जासों जाय देत सो मोहिँ वुलाई
दीनन पै तो दया दीन जन की चलि आई ।
पै जव पूछति 'मरयो कवहुँ कोऊ तुम्हरे घर—
मातु, पिता, पति, पुत्र, वंधु, भगिनी वा देवर?'
कहत चकित ह्वै 'वहिन ! कहा यह कहति अजानी,
मरे न जाने किते, जियत तो थोरे प्रानी ।'
सरसों तिनकी फेरि जाय जाँचति पुनि औरन;
पै सव याही रूप कहत कछु उदासीन मन
'सरसों तो है किन्तु मरो है मेरो भाई ।'
'सरसों है पै पति दीनो चलि मोहिं विहाई ।'
'सरसों है पै वोयो जाने सो है नाहीं,
काटन को जब समय, गयो चलि सुरपुर माहीं ।'

मिल्यो न ऐसो मोहिँ कोउ घर, हे प्रभु ज्ञानी!
कबहुँ न होवै मरो जहाँ पै कोऊ प्रानी।
नदी किनारे नरकट के वा झापस माहीँ
दीनो मैं शिशु डारि हँसत बोलत जो नाहीं।
तव पाँयन ढिग फेरि, प्रभो! विनवति हौं आई,
सरसों मिलिहै कहाँ देहु, प्रभु, यहै बताई।"

बोले प्रभु "जो मिलत न सो तू हेरति हारी,
पै हेरत में लही एक कटु औषध भारी।
कालि लख्यो निज शिशुहि महानिद्रा में सोवत,
देखति है तू आज सबै सोई दुख रोवत।
सब पै जो दुख परत लगत हरुओ जग माहीं,
बहुतन में बँटि लगत एक को गरुओ नाहीं।
थमै तिहारो आँसु देहुँ तो रक्तहिं गारी,
पै नहिं जानत मर्म मृत्यु को कोउ नरनारी,
प्रेममाधुरी बीच देति जो कटु विष घोरी,
जो नित वलि के हेतु नरन लै जात बटोरी
फूलन सों लहलही वाटिका बीच निकारत—
मूक पशुन इन लिए जात ज्यों, लखौ, हँकारत।
खोजत हौं मैं सोइ रहस्य, हे भगिनी मेरी!
लै अपनो शिशु जाय क्रिया करु तू वा केरी।"

———

यज्ञबलि-दर्शन

पशुपालन संग प्रवेश कियो पुर में प्रभु देखत देखत जाय,
ढरि कंचन सी किरनैं रवि की जहँ सोन को नीर रहीं झलकाय,
सब वीथिन में पुर की परिकै परछाईं रहीं अति दीरघ नाय,
पुरद्वार के पार जहाँ प्रतिहार खड़े बहु दीरघ दंड उठाय।

पशु लै प्रभु को तिन आवत देखि दयो पथ सादर मौनहिं धारि।
सब हाट की बाट में बैठनहार लई बगरी निज वस्तुन टारि।
झगरो निज रोकि कै गाहक औ बनियाहु रहे मृदु रूप निहारि।
कर बीच हथौड़ो उठाय लुहार गयो रहि नाहिँ सक्यो घन मारि।

तनिबो तजि ताकि जुलाह रहे, बहु लेखक लेखनि हाथ उठाय।
गनिबो निज पैसन को चकराय गयो सुधि खोय सराफ भुलाय।
नहिँ अन्नकी राशिपै काहुकी आँखि, रहे सुख सों मिलि साँड़ चबाय।
मटकी पर धार चली पय की बहि, ग्वाल रहे प्रभु पै टक लाय।

पुरनारि जुरी बहु बूझति हैं "बलि हेतु लिए पशु को यह जात?
शुचि शांतिभरी मृदुता मुख पै, अति कोमल मंजु मनोहर गात।
कहु जाति कहा इनकी? इन पाए कहाँ अति सुंदर नैन लजात?
तन धारि अनंग किधौं मघवा यह जात चलो गति मंद लखात?"

कोउ भाखत "सिद्ध सोई यह जो तिन योगिन संग बसै गिरिपार।"
प्रभु जात चले निज पंथ गहे मन माहिं विचारत याहि प्रकार—

"भटकैं नर भेड़ समान, अहो! इनको नहिं कोउ चरावनहार;
सब जात चले उत अंध भए बलि हेतु खिंची जित है जमधार।"

आय नृपति सों कही एक प्रभु को आवत सुनि
"आवत हैं तव यज्ञ माहिं, प्रभु! एक महा मुनि।"

यज्ञशाला में बसत नृप; बँधे बंदनवार;
शुभ्र पट धरि करत ब्राह्मण मंत्र को उच्चार।
देत आहुति जात हैं मिलि सकल बारंबार।
मध्यवेदी बीच धधकति अग्नि धूम्राँधार।

गंधकाठन सों उठति लौ जासु जीभ लफाय;
खाति बल, धुधुआति रहि रहि धार घृत की पाय;
भखति बलि सह सोमरस जो पाय इंद्र अघात;
अंश देवन को सकल तिन पास पहुँचत जात।

बधे बलिपशु के रुधिर की लाल गाढ़ी धार
बिछी बालू बीच थमि थमि बहति वेदी पार।
लखो अज इक बड़े सींगन को खड़ो मिमियात,
मूँज सों गर कसो जाको यूप में दरसात।

तानि ताके कंठ पै करवाल अति खरधार
एक ऋत्विज् लग्यो बोलन मंत्र विधि अनुसार—

"ग्रहण याको करौ तुम, हे देवगण, सब आय
यज्ञबलि शुभ बिंबसार नरेश को हरषाय।

होहु आज प्रसन्न लखि जो रक्त रहे बहाय।
जरत पल तें वपा की यह गंध लेहु अघाय।
भूप को मम अशुभ याके सीस पै सब जाय।
हनत हौं अब याहि, लेवैं भाग सुरगण आय।"

आय ठाढ़े भए नृप ढिग बुद्ध प्रभु तत्काल
बरजि बोले "याहि मारन देहु ना, नरपाल!"
जाय बलिपशु पास बंधन तुरत दीनो खोलि;
तेज सों दबि रहे सब, नहिं सक्यो कोऊ बोलि।

कहन पुनि भगवान लागे "गुनौ, नृप! मन माहिं,
लै सकत हैं प्राण सब, पै दै सकत कोउ नाहिं।
क्षुद्र कैसउ होय प्यारो होत सबको प्रान।
नाहिं ताको तजन चाहत कोउ अपनी जान।

है अमूल्य प्रसाद जीवन, यदि दया को भाव,
सबल निर्बल दोउ पै है विदित जासु प्रभाव।
अबल हित करि देति कोमल जगत की गति घोर;
सबल को लै जाति है सो श्रेष्ठ पथ की ओर।

चहत देवन सों दया नर होत निर्दय आप;
देव सम ह्वै पशुन हित इन, देत इन को ताप।
जगत में हैं जीव जेते सबै एकहि गोत,
श्रेष्ठ है सो जीव जाको ज्ञान ऐसो होत।

रहत जो विश्वास पै, पय ऊन दै तृण खात,
दीन जीवन संग ऐसे करत हैं नर घात!
शास्त्र सारे कहत केते नर शरीर विहाय
भोगि पशु खग योनि पुनि नरदेह पावत आय।

अग्निकण सम जीव परि भवचक्र फेरो खात,
कबहुँ दमकत निखरि कै औ कबहुँ लपटि भँवात।
यज्ञ में पशुहनन निश्चय पाप है, नरराय!
जीव की गति रोकिबो या भाँति है अन्याय।

जीव शुद्ध न ह्वै सकत है रक्त सों जग माहिं।
देवगण हू भले हैं यदि, तुष्ट ह्वैहैं नाहिं!
क्रूर हैं यदि, सकत कैसे तिन्हैं हम बहराय
दीन गूँगे पशुन को इन मारि रक्त बहाय?

करत नर जो पाप नाना भाँति कर्म कसाय
तासु फल तिल भर न सकिहै पशुन के सिर जाय।
करत जो है सोइ भोगत और कोऊ नाहिं।
विश्व को लेखो भरत सब रहत जीवन माहिं;

होत जीवन माहिँ जैसे कर्म, वचन, विचार
गति भली वा बुरी पावत ताहि के अनुसार ।
नित्य है यह नियम अंतररहित औ अविराम ।
कहत भावी जाहि सो है कर्म को परिणाम ।

सुनत दया सोँ भरी खरी वानी प्रभु केरी
रक्तरँगे कर ढाँपि रहे द्विज इकटक हेरी ।
सादर सहमि नृपाल खड़े कर जोरि अगारी ।
लगे कहन प्रभु फेरि सवन की ओर निहारी—
"धराधाम यह कैसो सुंदर होतो, भाई !
जो रहते सब जीव प्रेम में बँधि गर लाई;
एक एक धरि खात न जो करि जतन घनेरो;
होत निरामिख रक्तहीन भोजन सब केरो ।
अमृतोपम फल, कनक सरिस कन, साग सलोने
सब हित उपजत जो, देखौ, सब थल, सब कोने ।"
सुनि यह सारी बात सहमि सवही सिर नायो,
दया धर्म को भाव सवन पै ऐसो छायो
ऋत्विज् हू सब दई अग्नि इत उत बगराई,
वलि को खाँड़ो दियो हाथ सोँ दूर वहाई ।
दूजे दिन नृप देश माहिँ डौँड़ी फिरवाई,
शिला पटल औ खंभन पै यह दियो खुदाई—

"महाराज हैं करत आज या विधि अनुशासन :—
यज्ञन में बलि हेतु और करिबे हित भोजन
होत रह्यो वध विविध पशुन को अब लौं घर घर,
पै अब सों नहिं रक्त बहावै कतहुँ कोउ नर।
जीव सबै को एक; ज्ञान हित जीवन सारो।
दयावान पै दया होति निश्चय यह धारो।"
थल थल पै शुभ शिलालेख यह सोहत सुंदर।
वा दिन सों उत गंगातट के रम्य देश भर,
जहाँ जहाँ प्रभु घूमि दया को मंत्र सुनायो,
पशु, पंछी, नर बीच शांति-सुख पूरो छायो।

प्रभु की ऐसी दया रही तिन सब पै भारी
प्राणवायु जो खैंचि रहे चल जीवन धारी,
सुख दुख के जो एक सूत्र में बँधे बेचारे,
जग में नाना जतन करत जो पचि पचि हारे।
जातक में है लिखी कथा यह एक पुरानी—
पूर्व जन्म में रहे बुद्ध इक ब्राह्मण ज्ञानी।
बसत बीच दालिद ग्राम के मुंडशिला पर।
भारी सूखो एक बार परि गयो देश भर।
ढँपे न ढेले, खेत बीच ही धान गए मरि;
घास, पात, तृण, लता गुल्म मुरझाय गए जरि।

ताल तलैयन को सारो जल गयो सुखाई ।
पशु पंछी जो बचे विकल ह्वै गए पराई ।
सूखे नारे के तट पै प्रभु जाय एक दिन
परी काँकरिन पै देखी इक भूखी बाघिन ।
धँसे नयन ह्वै ज्योतिहीन, हाँफति मुँह बाई;
दाढ़न सोँ बढ़ि जीभ दूर कढ़ि बाहर आई ।
पसुरिन सोँ सटि रह्यो चर्म चित्रित, ज्यों छप्पर
बाँसन बिच धँसि रहत होय वर्षा सोँ जर्जर ।
विकल क्षुधा सोँ शावक द्वै थन पै मुँह लाई
खैँचि खैँचि रहे हारि, बूँद नहिं मुख में जाई ।
छटपटात निज शिशुन देखि जननी सिर नाई
सरकि और तिन ओर नेह सोँ चाटति जाई ।
रही भूलि निज भूख नेह के आगे सारी!
गर्जन नहिँ रहि गयो, बिलखि हुँकरत गर फारी ।
देखि दशा यह तासु भूलि प्रभु अपनो तन मन
करुणा की निज सहज बानि-वश लागे सोचन
"कैसे वन की हत्यारिन की करौँ सहाई?
केवल एक उपाय परत है मोहिँ लखाई ।
मांस बिना दिन डूबत ही ये तीनो मरिहैँ;
ऐसे मिलिहैँ कौन दया जो इन पै करिहैँ ।
जिन्हैँ रक्त की प्यास, मांस की भूख सतावति
तिनपै जग में दया नाहिं काहू को आवति ।

याके सम्मुख डारि देहुँ जो मैं अपनो तन
मोहिं छाँड़ि नहिं हानि और काहू की या छन।
अपनी हू तो हानि नाहिं कछु मोहिं दिखाती
जीवन प्रति निज नेह निवाहौं जो या भाँती।
यों कहि अपनो उत्तरीय उष्णीष विहाई
उतरि करारे सों बाघिन ढिग पहुँचे जाई।
बोले "ले यह, मातु! मांस तेरे हित आयो।"
भूखी बाघिन झपटि तिन्हैं तहँ तुरत गिरायो।
कुटिल नखन सों तन विदारि, मुँह दियो लगाई,
बोरि रक्त में दाँत, मांस सब गई चबाई।
हिंसातप्त कराल श्वास वा पशु की जाई
प्रभु के अंतिम प्रेम-उसासन माहिं समाई।

रह्यो प्रभु को सदा याही भाँति हृदय उदार।
बरजि पशुबलि बुद्ध कीनो दयाधर्म-प्रचार।
जानि प्रभु को राजकुल औ त्याग अमित अपार
बिंबसार नरेश कीनी विनय यों बहु बार—

"राजकुल पलि, रहे ऐसे कठिन नियम निवाहि!
धरत जो कर राजदंड न भीख सोहति ताहि।
रहौ मेरे पास चलि, नहिं मोहिं कोउ संतान।
जिऔं जब लौं तुम सिखाओ प्रजा को मम ज्ञान।

करौ तुम मम भवन सुंदरि वधू सहित निवास ।"
कह्यो दृढ़ संकल्प निज सिद्धार्थ होय उदास—
"रही" मोको वस्तु ये सब सुलभ, नृपति उदार !
सत्य पथ की खोज में हौं तज्यों सब घर बार ।

खोज में हौं और रहिहौं ताहि की चित लाय,
नाहिं थमिहौं इंद्र हू को भवन जो मिलि जाय ।
लेन आवैं अप्सरा मोहिं रत्नमंडित द्वार
किंतु निज संकल्प तें ना टरौं काहु प्रकार ।

जात हौं मैं धर्मभवन उठायवे हित जोहि
गया के घन बनन में जहँ बोध ह्वै है मोहिं ।
ऋषिन को करि संग देख्यों छानि शास्त्र पुरान,
किए नाना भाँति के व्रत और क्लेशविधान,

सत्य की पै ज्योति मोकों मिली अब लौं नाहिं;
ज्योति ऐसी है अवसि, यह उठत है मन माहिं ।
लह्यौं जो मैं ताहि तो पुनि पलटि या थल आय
प्रेम को फल अवसि दै हौं तुम्हैं, हे नरराय !"

तीन बार प्रदक्षिणा प्रभु की करी नरपाल;
बिदा दीनी फेरि सादर पाँव पै धरि भाल ।
चले प्रभु उरुविल्व दिशि संतोष ना कछु पाय;
परो पीरो बदन तप सों, देह रही झुराय ।

पंचवर्गी भिक्षु सुनि यह पास प्रभु के आय
बहुत चाह्यो रोकिबो बहु भाँति यों समझाय—
"बात है सब लिखी क्यों नहिं पढ़त शास्त्र उठाय ?
सुनौ, श्रुति के ज्ञान सों बढ़ि सकैं मुनिहुँ न जाय।

ज्ञान भाखत जो हमारो ज्ञानकांड महान्
क्षुद्र मानुष पायहै बढ़ि कहाँ तासों ज्ञान ?
ब्रह्म निष्क्रिय, सर्वगत, सत् और चित्, आनंद,
अपरिणामी, निर्विकार, निरीह, अज, निर्द्वंद।

कहत श्रुति यों, राग तजि औ कर्म को करि नाश,
अहंकार विमुक्त ह्वै, निरुपाधि स्वयंप्रकाश,
जीव बंधन काटि क्रमशः ब्रह्म में मिलि जात।
ब्रह्मविद्या पढ़ौ तो तुम जानिहौ सब बात,

असत् तें सत् ओर कैसे जीव यह चलि जाय
लहत पुनि चिर शांति कैसे विषयद्वंद्व विहाय।"
सुनी तिन की बात प्रभु चुपचाप सीस नवाय
भयो पै परितोष नहिं, चट दिए पाँव बढ़ाय।

———

षष्ठ सर्ग

तपश्चर्य्या

जहँ बोधि-ज्योति प्रकाश भइ सो थल विलोकन चाहिए
तो चलि 'सहस्रारामं' सोँ वायव्य दिशि को जाइए।
करि पार गंग कछार पावँ पहार पै धरिए वही
जासोँ निकसि नीरंजना की पातरी धारा वही।

अब होत ताके तीर चकरे पात के महुअन तरे,
हिंगोट औ अंकोट की झाड़ीन को मारग धरे,
पटपरन में कढ़ि जाइए जहँ फल्गु फोरि नगावली
चपती चटानन बीच पहुँचति है गया की शुभथली।

बलुए पहारन और टीलन सोँ जड़ो सुषमा भरो
उरुबिल्व को ऊसर कटीलो दूर लौं फैलो परो।
लहरात ताके छोर पै वन परत एक लखाय है
अति लहलहे तृण सोँ रही तल भूमि जाकी छाय है।

जुरि कतहुँ सोतन को विमल जल लसत धीर गभीर है;
जहँ अरुण, नील, सरोज ढिग बक सारसन की भीर है।
कछु दूर पै दरसात ताड़न बीच छप्पर फूस के,
जहँ कृषक 'सेनग्राम' के सुखनीँद सोवत हैं थके।

तहँ विजन वन के बीच वसि प्रभु ध्यान धरि सोचत सदा
प्रारब्ध की गति अटपटी औ मनुज की सब आपदा,
परिणाम जीवन के जतन को, कर्म की बढ़ती लड़ी,
आगम निगम सिद्धांत सब औ पशुन की पीड़ा बड़ी,

वा शून्य को सब भेद जहँ सों कढ़त सब दरसात हैं,
पुनि भेद वा तम को जहाँ सब अंत में चलि जात हैं।
या भाँति दोउ अव्यक्त बिच यह व्यक्त जीवन ढरत है
ज्यों मेघ सों लै मेघ लौं नभ इंद्रधनु लखि परत है,

नीहार सों औ घाम सों जुरि जासु तन बनि जात है
जो विविध रंग दिखाय कै पुनि शून्य बीच बिलात है,
पुखराज, मरकत, नीलमणि, मानिक छटा छहराय कै,
जो छीन छन छन होत अंत समात है कहुँ जाय कै।

योँ मास पै चलि मास जात लखात प्रभु वन में जमे,
चिंतन करत सब तत्त्व को निज ध्यान में ऐसे रमे,
सुधि रहति भोजन की न, उठि अपराह्न में देखैं तहीं
रीतो परो है पात्र वामें एक हू कन है नहीं।

बिनि खात वनफल जाहि वलिमुख देत डार हिलाय हैं
औ हरित शुक जो लाल ठोरन मारि देत गिराय हैं।
द्युति मंद मुख की परि गई, सब अंग चिंता सों दहे,
बत्तीस लच्छण मिटि गए जो बुद्ध के तन पै रहे।

झूरे झरत जो पात तहँ जहँ बुद्ध तप में चूर हैं,
ऋतुराज के ते लहलहेपन सोँ न एते दूर हैं
जेते भए प्रभु भिन्न हैं निज रूप सोँ वा पाछिले
निज राज के जब वे रहे युवराज यौवन सोँ खिले ।

घोर तप सोँ छीन ह्वै प्रभु एक दिन मुरछाय
गिरे धरती पै मृतक से सकल चेत विहाय ।
जानि परति न साँस औ ना रक्त को संचार ।
परी पीरी देह, निश्चल परो राजकुमार ।

कढ़यो वा मग सोँ गड़रियो एक वाही काल,
लख्यो सो सिद्धार्थ को तहँ परो विकल विहाल,
मुँदे दोऊ नयन, पीरा अधर पै दरसाति,
धूप सिर पै परि रही मध्याह्न की अति ताति ।

देखि यह सो हरी जामुनडार तहँ बहु लाय,
गाँछि तिनको छाय मुख पै छाहँ कीनी आय ।
दूर सोँ मुख में दियो दुहि उष्ण दूध सकात—
शूद्र कैसे करै साहस छुवन को शुचि गात ?

तुरत जामुन डार पनपीँ नयो जीवन पाय,
उठीं कोमल दलन सों गुछि, फूल फल सोँ छाय;
मनो चिकने पाट को है तनो चित्र वितान,
रँग विरंगी झालरन सोँ सजो एक समान ।

करी वहु अजपाल पूजा देव गुनि कोउ ताहि ।
स्वस्थ ह्वै उठि कह्यो प्रभु "दे दूध लोटे माहिं ।"
कह्यो सो कर जोरि "कैसे देहुँ कृपानिधान ?
शूद्र हौं मैं अधम, देखत आप हैं, भगवान !"

कह्यो जगदाराध्य "कैसी कहत हौ यह बात ?
याचना औ दयानाते जीव सब हैं भ्रात ।
वर्णभेद न रक्त में है बहत एकहि रंग;
अश्रु में नहिं जाति, खारो ढरत एकहि ढंग ।

नाहिँ जनमत कोउ दीने तिलक अपने भाल,
रहत काँधे पै जनेऊ नाहिँ जनमत काल ।
करत जो सत्कर्म साँचो सोइ द्विज जग माहिँ,
करत जो दुष्कर्म सो है वृषल, संशय नाहिँ ।

देहि भैया ! दूध मो को त्यागि भेद विचार;
सफल ह्वैहौं, अवसि तेरो होयहै उपकार ।"
सुनत प्रभु के वचन ऐसे तुरत सो अजपाल,
दियो लोटो टारि प्रभु पै, भयो परम निहाल ।

तपश्चर्य्या-त्याग

नूपुर बजाय देवदासी इंद्रमंदिर की
जाति रहीं वाही मग मोद के प्रवाह बहि।
संग मैं समाजी कोउ डारे गर ढोल,
जासु मँडरे पै मोरपंख मंडित मरोर लहि।
धारे एक बाँसुरी सुरीली मृदु तान भरी,
बीन तीन तार को चलो है एक हाथ गहि।
उतसव माहिं काहू साज बाज साथ जात
अटपट बाट बीच ठमकत रहि रहि।

गोरे गोरे पायँन सोँ कढ़ि रही मंद मंद
पायल औ घूँघरू की रसभरी झनकार।
कर बीच कंकन औ कटि बीच किंकिनी हू
खनकि उठति संग पूरो करि बार बार।
धारि जो सितार हाथ पास पास चलो जात
आँगुरी चलाय रह्यो भूमि झनकारि तार।
तीर धरि तासु अलबेली मृदु तान छाँड़ि,
गाय उठीं गीत यह अंगगति अनुसार—

रखौ तुम ठीक बीन को तार।
ना ऊँचो, ना नीचो होवै जमै रंग या बार।
गाय रिझाय करैं अपने बस हम सिगरो संसार।

वहुत कसे टुटि जात तार, लय उखरि जाति मझधार ।
ढीलो तार न बोल निकासत, रंग होत सब छार ।

वाँसुरी औ वीन पै या भाँति सुंदरि गाय
जाति वा वनखंड भीतर चूनरी फहराय ;
मनौ पंछी कोउ चित्रित पंख को फरकाय
खोलि निज कल कंठ घाटिन वीच विचरत जाय ।

रह्यो सुंदरि को न कछु या वात को अनुमान
कान मैं वा सिद्ध के है परति ताकी तान
मार्ग मैं अश्वत्थ तर जो वसत धारे ध्यान ।
किंतु पलक उघारि बोले वुद्ध सुनि सो गान—

मूढ़ हू तें मूढ़ ते हैं सकत नर कछु जानि ।
सूक्ष्म जीवनतार को मैं रह्यों अतिशय तानि,
समुझि यह संगीत की मृदु निकसिहै झनकार
गूँजि करिहै जो जगत् में मनुज को उद्धार ।

सत्य अब जब लखि परत भइ नयनज्योति मलीन,
अधिक बल जब चाहिए तब है रह्यो तन छीन ।
प्राप्त साधन जो मनुज को, रह्यों सोउ बहाय ।
जायहौं या भाँति मरि, कछु करि न सकिहौं, हाय !

सुजाता

वसत रह्यो तहँ एक नदीतट पै भूस्वामी
धर्मवान्, धनधान्यपूर्ण, सुकृती औ नामी,
ढोर सहस्रन मूँड़ जाहि, जो न्यायी नायक,
आसपास के दीन दुखिन को परम सहायक।
'सेन' तासु कुलनाम, ग्राम हू 'सेन' हि बोलत
वसि सुख सोँ जहँ सो भरि भरि नित मूठी खोलत।
रही सुजाता नारि तासु रुचि राखनहारी,
रूपवती, गुणवती, सती, भोरी, सुकुमारी।
मति गति गौरवभरी, दया दुख लखि दरसावति।
सब सोँ मीठे वचन बोलि परितोष बढ़ावति।
आनन पै आनंद, चाह चितवन में सोहति।
नारिन में सो रत्न, शील सोँ जनमन मोहति।
शांति सहित सुखधाम बीच बितवत दिन दोऊ;
दुख यदि कोऊ रह्यो, यहै संतति नहिँ कोऊ।
करी सुजाता लक्ष्मी की पूजा बहु भाँती;
नित्य सूर्य्य के मंदिर में सो उठि कै जाती।
करि प्रदक्षिणा बार बार निज विनय सुनावति,
धूप, गंध दै फूल और नैवेद्य चढ़ावति।
एक बार बन बीच जाय कर जोरि मनायो—
"ह्वैहै यदि, वनदेव! कहूँ मेरो मनभायो

तो या तरुतर आय फेरि निज सीस नवैहौं,
कनक कटोरे माहिं खीर अनमोल चढ़ैहौं ।"

सफल कामना भई, भयो इक बालक सुंदर ।
तीन मास को होत ताहि निकसी लै बाहर ।
चली मंद गति, भक्तिभरी, सामग्री साजे
निर्जन वन की ओर जहाँ वनदेव विराजे ।
एक हाथ सों थामे सारी के अंचल तर
बड़ी साध को प्यारो अपनो शिशु सो सुंदर;
दूजो कर मुरि उठ्यो सीस लौं, रह्यो सँभारी
कनक-कटोरन सजी खीर जामें सो थारी ।

दासी राधा गई रही पहिले सों वा थल
वेदी झारि बहारि लीपि करिबे को निर्मल ।
दौरति आई लगी कहन "हे स्वामिनि मेरी !
प्रगट भए वनदेव लेन पूजा यह तेरी ।
साक्षात् तहँ आय विराजत आसन मारे,
ध्यान लाय, दोउ हाथ जानु के ऊपर धारे ।
दिव्य ज्योति दृग माहिं, अलौकिक तेज भाल पर
भव्य भाव युत लसत सौम्य शुचि मूर्ति मनोहर ।
हे स्वामिनि ! कलिकाल माहिं यों सम्मुख आई
बड़े भाग्य सों देत देव प्रत्यक्ष दिखाई ।"

गुनि ताको वनदेव दूर सोँ करि वहु फेरे,
काँपति काँपति गई सुजाता ताके नेरे।
करति दंडवत भूमि चूमि वोली यह बानी—
"हे वन के रखवार! देव, अति शुभ-फल-दानी!
दर्शन दै ज्योँ दया करी दासी पै भारी,
पत्र पुष्प करि ग्रहण करौ प्रभु! मोहिँ सुखारी।
तव निमित्त वहु जतनन सोँ यह खीर बनाई;
दधि कपूर सम श्वेत आज प्रभु सम्मुख लाई।"
कनक कटोरे माहिँ खीर प्रभु ढिग सरकाई
चंदन गंध चढ़ाय, फूलमाला पहिराई।
खान लगे भगवान वचन मुख पै नहिँ लाए;
खड़ी सुजाता दूर भक्ति सोँ सीस नवाए।
ऐसो गुण कछु रह्यो खीर में, खातहि वाके
गई शक्ति प्रभु की वहुरी, वे सुख सोँ छाके।
पूरो वल तन माहिँ गयो पुनि ऐसो आई
व्रत औ तप के दिवस स्वप्न से परे जनाई।
तन मैँ जव वल परयो चित्त हू लाग्यो फरकन,
वढ़ि वहु विषयन ओर लग्यो छानन हित सरकन;
जैसे पंछी थको मरुस्थल की रज छानत
गिरत परत जल तीर आय सहसा वल आनत।
ज्योँ ज्योँ प्रभु-मुखकांति मनोहर बढ़ति जाति अति
त्योँ त्योँ औरहु खड़ी सुजाता है आराधति।

बोले प्रभु "यह कौन पदारथ मो पै लाई ?"
बोली सुनि यह बात सुजाता सीस नवाई—
"सौ गैयन को दूध प्रथम दुहवाय मँगायों,
लै पचास धौरी गैयन को ताहि खवायों ;
तिनको लै मैं दूध खवायों पुनि पचीस चुनि,
तिन पचीस को पय बारह को मैं दीनो पुनि ;
तिन बारह को दूध दियों पुनि सब गुन आँकी
छः गैयन को बीछि, रहीं जो सब मैं बाँकी ।
दुहि तिनको सो छीर आँच पै मृदु औटाई,
तज, कपूर औ केसर सों विधि सहित बसाई,
नए खेत सों बासमती चावर मँगवाई,
एक एक कन बीनि धोय यह खीर बनाई ।
भक्ति भाव सों साँचे, प्रभु ! मैं कीनो यह सब ।
करी मनौती रही होयहै मोहिं पुत्र जब
तब या तरु तर आय चढ़ैहौं पूजा तेरी ;
नाथ दया सों सकल कामना पूजी मेरी ।"

भुवन-उबारनहार हाथ धरि शिशु के सिर पर
बोले प्रभु "सुख बढ़त तिहारो जाय निरंतर ।
परै न यह भवभार जानि या जीवन माहीं ;
सेवा तुमने करी, देव मैं कोऊ नाहीं ।

मैं हू भाई एक और जैसे सब तेरे,
पहले राजकुमार रह्यों, अब डारत फेरे।
निशि दिन खोजत फिरौं ज्योति जो कतहूँ जागति,
लहै कोउ जो ताहि, मिटै जग-अंधकार अति।
पैहौं मैं सो ज्योति होत आभास घनेरो;
तू ने तन मन गिरत सँभारयो भगिनी! मेरो।
अति पुनीत संजीवन पायस तू यह लाई;
अपने जतनन ऐसी जीवनशक्ति जुटाई,
बहु जीवन बिच होति गई जो बटुरति, बाढति;
लहत जन्म बहु गहत जात ज्यों जीव उच्च गति।
जीवन मैं आनंद कहा साँचहु तू पावति ?
गृहसुख मैं निज मग्न और कछु मनहिँ न लावति ?"

सुनि सुजाता दियो उत्तर "सुनौ, हे भगवान्!
नारि को यह हृदय छोटो, नाहिँ जानत आन।
नाहिँ भीजति भूमि जेतो मेंह थोरो पाय
नलिनपुट भरि जात है, खिलि उठत है लहराय।

चहौं बस सौभाग्यरवि की रहौं आभा हेरि
अमल पतिमुख-कमल में, मुसकान में शिशु केरि।
यहै जीवन को हमारे, नाथ! है मधुकाल;
मगन राखत मोहिँ तो घरबार को जंजाल।

सुमिरि देवन उठति हौं नित उवत दिन, भगवान् !
न्हाय धोय कराय पूजन देति हौं कछु दान ।
काज में लगि आप दासिन देति सकल लगाय ।
जात यों मध्याह्न ह्वै; पतिदेव मेरे आय

सीस मेरी जानु पै धरि परत पाँव पसारि;
करौं बीजन पास बसि मुखचंद्र तासु निहारि ।
आय जब घर माहिं भोजन करन बैठत राति
ठाढ़ि परसति ताहि व्यंजन लाय नाना भाँति ।

रसप्रसंग उठाय बहु कछु बेर लौं बतराय
फेरि सुख की नींद सोवति शिशुहि अंक बसाय ।
और सुख अब कौन चहिए मोहिं या जग माहिं ?
रही प्रभु की दया सों कछु कमी मोको नाहिं ।

पुत्र दै निज पतिहि अब मैं भई पूरनकाम,
जासु कर को पिंड लहि सो भोगिहै सुरधाम ।
धर्मशास्त्र पुराण भाखत, हरत जे परपीर;
पथिक छाया हित लगावत पेड़ जे पथतीर,

जे खनावत कूप, छाँड़त पुत्र जे कुल माहिं
सुगति लहि ते जात उत्तम लोक, संशय नाहिं"

कह्यो ग्रंथन माहिं जो जो चलति हौं सो मानि,
सकौं मैं तिन मुनिन सों बढ़ि वात कैसे जानि

होत सम्मुख रहे जिनके देवगण सब आय,
गए जे वहु मंत्र और पुराण शास्त्र बनाय,
धर्म को जे तत्त्व जानत रहे पूर्ण प्रकार,
शांति को जिन मार्ग खोज्यो त्यागि विषय-विकार ?

वात मैं यह जानती सव काल में सब ठौर
भले को फल शुभ, बुरे को अशुभ है, नहिँ और।
लहत हैँ फल मधुर नीके वीज को सब बोय
औ विषैले वीज को फल अवसि कडुवो होय।

लखत इत ही, वैर उपजत द्वेष सों जा भाँति,
शील सों मृदु मित्रता औ धैर्य सों शुचि शांति।
जायहैँ तन छाँड़ि जब तव कहा ह्वैहै नाहिँ
भलो वाहू लोक में ज्यों होत है या माहिँ ?

होयहै बढ़ि कै कहूँ—ज्यों परत है जब खेत
धान को कन एक, अंकुर फेँकि सहसन देत।
सकल चंपक को सुनहरो वर्ण औ विस्तार
रहत विंदी सी कलिन में लुको पूर्ण प्रकार।

यहौ जानौं, परति ऐसी आपदा हूँ आय,
छूटि जब सब धीरता मुँह मोरि जाति पराय।
जाय जैसे मरि कहूँ मम प्राणप्रिय यह लाल,
दरकि मेरो हियो ह्वैहै टूक ह्वै तत्काल।

चाहिहौं तो अवसि ही ह्वै टूक सो ह्वै जाय;
अंक में शिशु दाबि यह वा लोक जाहुँ सिधाय।
बाट पति की रहौं तब लौं जोहती तहँ जाय
अंत वाकी घरी जब लौं नाहिं पहुँचै आय।

किंतु मेरे सामने परलोक जो पति जाय,
चिता पै मैं चढ़ौं वाको सीस अंक बसाय।
फूलि अंग समाहुँ ना जब अनल दहकै घोर;
उठै कुंडल बाँधि, छावै धूम चारों ओर।

लिखी है यह बात, जो सहमरण करती बाम
तासु पुण्यप्रभाव सों पति लहत है सुरधाम,
संग ताके करत सुख सों तहाँ विविध विहार
वर्ष एते कोटि ताके सीस जेते बार।

रहति मेरे हिये चिंता की न कोऊ बात;
दिवस जीवन के सदा आनंद में चलि जात।

किंतु सुख में लीन मैं नहिं भूलि तिनको जाति
पतित हैं, जे दीन हैं, दुख सहत जे दिन राति ।

यहै चाहौं दया तिन पै करैं श्री भगवान,
भलो जो बनि परत मोसों करति अपनो जान ।
चलति हौं मैं धर्म पै, विश्वास यह मन आनि
होयहै जो कछु भलोई, होयहै नहिं हानि ।

कहत प्रभु "सिखि सकत तोसों जो सिखावत आन को,
कथत भोरी बात सों तेरी अधिक जो ज्ञान को ।
तू भली जो नाहिं जानति, मगन जीवन में रहै;
धर्म अपनो जानि, बस तू और नहिं जानन चहै ।

सहित परिजन छाँह में सुख की सदा फूलै फरै!
सत्य की खर ज्योति कोमल पात पै या ना परै ।
बढ़त बीरो जाय यह बहु लोक बीच पसार कै ।
अंत काहू जन्म में कढ़ि जाय यह भव पार कै ।

मोहिं पूजन तू चली, मैं तोहि पूजत हौं, अरी!
धन्य तेरो हियो निर्मल! धन्य तव गति मतिभरी!
बुद्धि लहि, अनजान में शुभ पंथ तू दरसावती;
ज्यों परेई प्रेम के वश नीड़ की दिशि धावती ।

होत तोहि विलोकि नरउद्धार की आशा सही,
मूठ जीवनचक्र को लखि परति अपने हाथ ही।
होय तव कल्याण सुख में रहैं तेरे दिन सने!
करौं मैं निज काज पूरो करति ज्यों तू आपने,

चहत यह आसीस जाको देव तू जानति रही।"
"काज पूरो होय प्रभु को" सुनि सुजाता ने कही।
शिशु बढ़ाए हाथ प्रभु की ओर हेरत चाव सोँ
करत बंदन है मनो भगवान को भरि भाव सोँ।

बोधिद्रुम

चल पाय पायस को उठे प्रभु डारि पग वा दिशि दिए
जहँ लसत बोधिद्रुम मनोहर दूर लौँ छाया किए;
कल्पांत लौँ जो रहत ठाढ़ो, कबहुँ नहिं मुरझात है,
जो लहत पूजा लोक में चिरकाल लौँ चलि जात है।

है होत आयो बुद्धगण को बोध याही के तरे।
पहिचानि प्रभु तत्काल ताकी ओर आपहि सोँ ढरे।
सब लोक लोकन माहिं मंगल मोद गान सुनात हैँ।
प्रभु आज चलि वा अक्षय तरु की ओर, देखौ, जात हैँ।

तकि वा तरु का छाँह जात जहँ उनई डार विशाल ।
मंडप सम सजि रह्यो चीकनो चमकत चल-दल-जाल ।
प्रभु पयान सोँ पुलकित पूजन करति अवनि हरषाय
चरणन तर वहु लहलहात तृण, कोमल कुसुम बिछाय ।

छाया करति डार झुकि बन की, मेघ गगन में छाय ।
पठवत वरुण वायु कमलन को गंधभार लदवाय ।
मृग, वराह औ वाघ आदि सब वनपशु वैर बिसारि
ठाढ़े जहँ तहँ चकित चाह भरि प्रभुमुख रहे निहारि ।

फन उठाय नाचत उमंग भरि निकसि बिलन सोँ व्याल ।
जात पंख फरकाय संग बहुरंग विहंग निहाल ।
सावज डारि दियो निज मुख तें चील मारि किलकार ।
प्रभु-दर्शन के हेतु गिलाई कूदति डारन डार ।

देखि गगन घनघटा मुदित ज्यों नाचत इत उत मोर ।
कोकिल कूजत, फिरत परेवा प्रभु के चारो ओर ।
कीट पतंगहु परत मुदित लखि; नभ थल एक समान
जिनके कान, सुनत ते सिगरे यह मृदु मंगलगान—

"हे भगवन् ! तुम जग के साँचे मीत उबारनहारे ।
काम, क्रोध, मद, संशय, भय, भ्रम सकल दमन करि डारे ।

विकल जीव कल्याण हेतु दै जीवन अपनो सारो
जाव आज या बोधिद्रुम तर, प्रभु, हित होय हमारो।

धरती वार वार आसीसति दवी भार सों भारी।
तुम हो बुद्ध, हरौगे सब दुख, जय जगमंगलकारी!
जय जय जगदाराध्य! हमारी करौ सहाय, दुहाई!
जुग जुग जाको जोहत आवत सो जामिनि अब आई।"

मारविजय

बैठे प्रभु वा रैन ध्यान धरि जाय विटप तर।
किन्तु मुक्तिपथ-बाधक नर को मार भयंकर
शोधि घरी चट पहुँचि गयो तहँ विघ्न करन को,
जानि बुद्ध को करनहार निस्तार नरन को।
तृष्णा, रति औ अरति आदि को आज्ञा कीनी,
सेना अपनी छाँड़ि तामसी सारी दीनी।
भय, विचिकित्सा, लोभ, अहंता, मत्त आदि अरि,
ईर्षा, इच्छा, काम, क्रोध सब संग दिये करि।
प्रबल शत्रु ये प्रभुहि डिगावन हित बहुतेरे
करत राति भर रहे विघ्न उत्पात घनेरे।
आँधी लै घनघोर घटा कारी घहराई
प्रबल तमीचर अनी घनी चारौ दिशि छाई।

गर्जन तर्जन करति, मेदिनी कड़कि कँपावति,
तमकि करति चकचौंध चमाचम वज्र चलावति ।
कबहुँ कामिनी परम मनोहर रूप सजाई,
चहति लुभावन मनभावन मृदु वैन सुनाई ।
डोलत धीर समीर सरस दल परसि सुहावन;
लगत रसीले गीत कान में रस बरसावन ।
कबहुँ राजसुख-विभव सामने ताके लावत ।
संशय कबहूँ लाय 'सत्य' को हीन दिखावत ।

दृश्य रूप में भईं किधौं ये बातें बाहर,
कैधौं अनुभव कियो बुद्ध इनको अभ्यंतर,
आपहि लेहु विचारि, सकत हम कहि कछु नाहीं ।
लिखी बात हम, जैसी पाई पोथिन माहीं ।

चले साथी मार के दस महापातक घोर ।
प्रथम 'हम हम' करत पहुँच्यो 'आत्मवाद' कठोर,
विश्व भर में रूप अपनो परत जाहि लखाय ।
चलै ताकी जो कहूँ यह सृष्टि ही नसि जाय ।

आय बोल्यो "बुद्ध हौ यदि करौ तुम आनंद,
जाय भटकन देहु औरन, फिरौ तुम स्वच्छंद ।
गुनौ तुम हौ तुमहि, उठि कै मिलौ देवन माहिं,
अमर हैं, निर्द्वंद्व हैं, जे करत चिन्ता नाहिं ।"

बुद्ध बोले "कहत उत्तम जाहि तू, है नीच;
स्वार्थ में रत होयँ जे बकु जाय तिनके बीच।"

पुनि 'विचिकित्सा' आई जो नहिं कछु सकारति।
बोली प्रभु के कानन लगि हठि संशय डारति
"हैं असार सब वस्तु—सकल झूठो पसार है—
औ असारता को तिनकी ज्ञानहु असार है।
धावत है तू गहन आपनी केवल छाया।
चल, ह्याँ तें उठ! 'सत्य' आदि सबही हैं माया।
मानु न कछु, करु तिरस्कार, पथ है यह बाँको।
कैसो नरउद्धार और भवचक्र कहाँ को?"
बोले श्री भगवान "शत्रु तू रही सदा हीं;
हे विचिकित्से! काज यहाँ तेरो कछु नाहीं।"
'शीलव्रतपरमार्प' परम मायावी आयो,
देश देश में जाने बहु पाखंड चलायो,
कर्मकांड औ स्तवन माहिं जो नरन बझावत,
स्वर्गधाम की कुंजी बाँधे फिरत दिखावत।
बोल्यो प्रभु सों "लुप्त कहा तू श्रुतिपथ करिहै?
देवन को करि विदा यज्ञमंडपन उजरिहै?
लोप धर्म को करन चहत तू बसि या आसन,
याजक जासों पलत, चलत देशन को शासन।"

बोले प्रभु "तू कहत जांहि अनुसरन मोहिं है,
क्षणभंगुर है रूप मात्र, नहिं विदित तोहि है?
किंतु सत्य है नित्य, एकरस, अचल सनातन।
अंधकार मैं भागु, न ह्यां तू रहै एक छन।"

दर्प सहित कंदर्प चढ़्यो पुनि प्रभु के ऊपर,
जो सुरगण वश करत, वापुरो रहत कहाँ नर?
हँसत कुसुम धनुशायक लै पहुँच्यो वा तरु तर;
बेधत हिय विषविशिखहु सौं बढ़ि जासु पंच शर।

चहुँ ओर चढ़ीं पुनि चंद्रमुखी अति चोप सौं चंचल नैन चलाय।
रसरंगतरंग उठाय रहीं, मधुरो सुर साज के संग मिलाय।
सुर सो सुनि मानहुँ मोहित ह्वै रजनी थिर सी परती दरसाय;
नभ में थमि तारक चंद रहे; नवनागरि गाय रहीं समझाय—

"धिक! खोय रह्यो निज जीवन तू तरुनीन को हास विलास विहाय
यहि सौं वढ़ि कै सुख और नहीं कोउ तीनहु लोकन माहिँ लखाय,
विगसे नव पीन पयोधर को परसै सरसै रस सौरभ पाय;
भरि भाव सौं भामिनि भौंहँ मरोरि, चितै, मुँह मोरि रहै मुसकाय।

कछु ऐसी लुनाई लखाति लसी ललनान के अंगन माहिँ ललाम।
कहि जाति न जो, मन जाय ढरै उत आप उमंग भरो अभिराम।

सुख जो यह भोगत हैं जग में तिनको यहि लोकहि में सुरध
यहि के हित सिद्ध सुजान अनेक सिझावत हैं तन आठहु य

फटकै दुख पास कहाँ जब कामिनि राखति है भुजपाश में ल
यहि जीवन को सब सार हुलास उसास में दोउन के मिलि ज
मृदु चुंबन पै इक चाह भरे सिगरो जग होत निछावर आय
यहि भाँति अनेकन भाव बताय रहीं सब सुंदरि गाय रिझ

मद की दुति नैनन में दरसै, अधरान पै मंद लसै मुसका
फिरि नाचत में सुठि अंग सुढार छपैं उघरैं ललचावत प्रान
खिलि कै कछु मानहुँ कंजकली लहि वात झकोर लगै लह
दरसावति रंग, छपावति पै मकरंद भरो हिय आपनी जान

यहि रंग की रूपछटा की घटा उनई कबहूँ नहिं देखि परी
तरु पास कढ्यो दल पै दल आय नवेलिन को निशि में निख
बढ़ि एक सों एक रसीली कहैं प्रभु सों "प्रिय ! हेरहु जाति
अधरान को पान करौ इन, लै यहि यौवन को रस एक घ

डिगे नहिं भगवान जब करि ध्यान नेकहु भंग,
तब चढ़ायो दाप सों उठि चाप आप अनंग।
लखि परयो चट कामिनीदल दूसरो चितचोर।
रही जो सब माहिं रूरी बढ़ी प्रभु की ओर।



रुचिर रूप यशोधरा को धरे पहुँची आय,
सजल नयनन में विरह को भाव मृदु दरसाय '
ललकि दोऊ भुजन को भगवान् ओर पसारि
मंद मृदु स्वर सहित बोली, भरि उसास निहारि—

"कुँवर मेरे! मरति हौं मैं बिनु तिहारे, हाय!
स्वर्गसुख सो कहाँ, प्यारे! सकत हौ तुम पाय
लहत जो रसधाम में वा रोहिणी के तीर,
जहँ पहार समान दिन मैं काटि रही अधीर।

चलौ फिरि, पिय! भवन, परसौ अधर मेरे आय,
फेरि अपने अंक में इक बेर लेहु लगाय।
भूलि झूठे स्वप्न में तुम रहे सब कछु खोय।
जाहि चाहत रहे एतो, लखौ, हौं मैं सोय।"

कह्यो प्रभु "हे असत् छाया! बस न आगे और।
व्यर्थ तेरे यत्न और उपाय हैं या ठौर।
देत हौं नहिं शाप वा प्रिय रूप को करि मान
कामरूपिनि! जाहि धरि तू हरन आई ज्ञान।

किंतु जैसी तू, जगत् को दृश्य सब दरसाय।
कढ़ी जहँ सों भागु वाही शून्य मैं मिलु जाय।"

कढ़त ही ये वचन छायारूप सब छन माहिँ
उड़ि गयो चट धूम है, तहँ रहि गयो कछु नाहिं।

अंधड़ घनो उठाय, अँधेरो नभ में छाए,
भारी पातक और और सब प्रभु पै आए।
आई 'प्रतिघा' कटि में कारे अहि लपटाई,
देति शाप जो तिनके बहु फुफकार मिलाई।
सौम्य दृष्टि ने प्रभु की मारी ताकी बोली,
मुख में कारी जीभ कीलि सी उठी न डोली।
प्रभु को कछु करि सकी नाहिं सब विधि सौं हारी।
कारे नागहु रहे सिमिटि फन नीचे डारी।
'रूपराग' पुनि आयो जाके वश नरनारी
जीवन को करि लोभ देत जीवनहिं विगारी।
पाछे लगो 'अरूपराग' हू पहुँच्यो आई
देत कीर्त्ति की लिप्सा जो मन माहिँ जगाई;
बुधजन हू परि जात जाल में जाके जाई,
बहु श्रम साहस करत, लरत रणभूमि कँपाई।
आयो तनि अभिमान; चल्यो 'औद्धत्य' फेरि बढ़ि
जासौँ धर्मी गनत लोग आपहि सब सौँ बढ़ि।
चली 'अविद्या' अपनो दल वीभत्स संग करि,
कुत्सित और विरूप वस्तु सौँ गई भूमि भरि।

परम घिनौनी बढ़ी डोकरी बूढ़ी सो जब
अंधकार अति घोर छाय सब ओर गयो तब ।
बिचले भूधर, उठी प्रभंजन सोँ हिलि यामिनि,
छाँड़ी मूसलधार दरकि घन, दमकी दामिनि ।
भीषण उल्कापात बीच महि काँपी सारी,
खुले घाव पै ताके मानो परी अँगारी ।
वा अँधियारी माहिँ भयो पंखन को फरफर;
चीत्कार सुनि पर्यो, रूप लखि परे भयंकर ।
प्रेतलोक तें दल को दल चढ़ि सेना आई;
प्रभुहिं डिगावन हेतु रही सो ठट्ट लगाई ।

किन्तु डिगे नहिं नेकु बुद्ध भगवान् हमारे ।
ज्यों के त्यों तहँ रहे अचल दृढ़ आसन मारे ।
लसत धर्म सोँ रक्षित चारो दिशि सोँ प्रभुवर,
खाई, कोटन बीच बसत ज्यों निडर कोउ नर ।
बोधिद्रुम हू अचल रह्यो वा अंधड़ माहीं;
हिल्यो न एकौ पात, ढरे हिमबिंदुहु नाहीं ।
बाहर सब उत्पात विघ्न ह्वै रहे भयंकर
किन्तु शांति अति छाय रही ताकी छाया तर ।

———

अभिसंबोधन

बीतत पहिलो पहर मार की सेना भागी।
गई शांति अति छाय, वायु मृदु डोलन लागी।
प्रभु ने 'सम्यक् दृष्टि' प्रथम यामहि में पाई,
सकल चराचर को जासों गति परी लखाई।
'पूर्वानुस्मृति ज्ञान' दूसरे पहर पाय पुनि
जातिस्मर ह्वै गए पूर्ण भगवान् शाक्यमुनि।
तुरत सहस्रन जन्मन की सुधि तिनको आई,
जब जब जनमे जहाँ जहाँ जिन जोनिन जाई।
ज्यों फिरि पाछे कोउ निहारत दीठि पसारी
बहुत दूर चलि पहुँचि शिखर पै गिरि के भारी,
देखत पथ में परे मोहिं कैसे कैसे थल!
ऊँचे नीचे दूह, खोह, नारे औ दलदल;
बीहड़ बन घन, देखि परत जो सिमटे ऐसे
महि अंचल पै टँकी हरी चकती है जैसे;
गहरे गहरे गर्त्त गर्‌यो जिन माहिं पसीनो,
जिनसों निकसन हेतु साँस भरि भरि श्रम कीनो;
ऊँचे अगम कगार छुटी झाईं जहँ चढ़तहि
खिसलत खिसलत पाँव गयो बहु बार जहाँ रहि
हरी हरी दूबन सों छाए पटपर सुंदर;
निर्मल निर्भर, दरी और अति सुभग सरोवर:

औ धुँधले नगअंचल समतल जिनपै जाई
लपक्यो पहुँचन हेतु नील नभ कर फैलाई।
वहु जन्मन की दीर्घ शृंखला प्रभु लखि पाई
क्रम क्रम ऊँची होति चली सीढ़ी सी आई,
अधम वृत्ति की अधोभूमि सों चढ़ति निरंतर
उच्च भूमि पै पहुँची निर्मल, पावन, सुंदर,
लसत जहाँ 'दश शील' जीव को लै जैवे हित
अति ऊँचे निर्वाणपंथ की ओर अविचलित।

देख्यो पुनि भगवान् जीव कैसे तन पाई
पूर्व जन्म में जो बोयो काटत सो आई।
चलत दूसरो जन्म एक को अंत होत जब,
जुरत मूर में लाभ, जात कढ़ि खोयो जो सब।
लख्यो जन्म पै जन्म जात ज्यौं ज्यौं बिहात हैं
चढ़त पुण्य सौं पुण्य, पाप सौं पाप जात हैं।
बीच बीच में मरणकाल के अंतर माहीं
लेखो सब को होत जात है तुरत सदाहीं।
या अचूक लेखे में बिंदुहु छूटत नाहीं,
संस्कार की छाप जाति लगि जीवन माहीं।
या विधि जब जब नयो जन्म प्राणी हैं पावत
पूर्व जन्म के कर्मबीज सँग लीने आवत।

भई 'अभिज्ञा' प्राप्त तीसरे पहर प्रभुहि मुनि,
पायो 'आश्रय ज्ञान' तबै भगवान् शाक्य मुनि।
लोक लोक में दृष्टि तासु जब पहुँची जाई
हस्तामलक समान विश्व सब पर्‍यो लखाई।
लखे भुवन पै भुवन, सूर्य्य पै सूर्य्य करोरन,
बँधी चाल सों घूमत लीने अपने ग्रहगन
ज्यों हीरक के द्वीप नीलमणि-अंबुधि माहीं,
ओर छोर नहिं जासु, थाह कहुँ जाकी नाहीं,
बढ़त घटत नहिं कबहुँ, क्षुब्ध जो रहत निरंतर,
जामें रूपतरंग उठत रहि रहि छन छन पर।
अमित प्रभाकर पिंड किए प्रभु यों अवलोकन,
अलख सूत्र सों बाँधि नचावत जो बहु लोकन,
करत परिक्रम आपहु अपने सों बढ़ि केरी,
सोउ अपने सों महज्ज्योति की डारत फेरी।
परंपरा यह जगी ज्योति की प्रभुहि लखानी
अमित, अखंड, न अंत सकत कहुँ जाको मानी।
लगत केंद्र सो जो सोऊ है डारत फेरे;
बढ़त चक्र पै चक्र गए या विधि बहुतेरे।
दिव्य दृष्टि सों देख्यो प्रभु लोकन को यावत्
अपनो अपनो कालचक्र जो घूमि पुरावत।
महाकल्प वा कल्प आदि भर भोग पुराई,
ज्योतिहीन ह्वै, छीजि, अंत में जात बिलाई।

ऊँचे नीचे चारो दिशि प्रभु डारयो छानी;
नीलराशि सो लखि अनंत मति रही भुलानी।
सब रूपन सोँ परे, लोक लोकन सोँ न्यारे,
और जगत् की प्राणशक्ति सोँ दूर किनारे,
अलख भाव सोँ चलत नियत आदेश सनातन,
करत तिमिर को जो प्रकाश औ जड़ को चेतन,
करत शून्य को पूर्ण, घटित अघटित को जो है
औ सुंदर को औरहु सुंदर करि जग मोहै।

या अटल आदेश मैं कहुँ शब्द आखर नाहिँ।
नाहिँ आज्ञा करनहारो कोउ या विधि माहिँ।
सकल देवन सोँ परे यह लसत नित्य विधान
अटल और अकथ्य, सब सोँ प्रबल और महान्।

शक्ति यह जग रचति, नासति, रचति बारंबार;
करति विविध विधान सब निज धर्मविधि अनुसार।
सर्गमुख गति माहिँ जाके त्रिगुण हैं विलगात;
रजस् सोँ ह्वै सत्व की दिशि लक्ष्य जासु लखात।

भले वेई चलैं जे या शक्तिगति अनुकूल।
चलैं जे विपरीत वेई करत भारी भूल।
करत कीटहु भलो अपनो जातिधर्म पुराय;
बाज नीको करत गेदन हित लवा लै जाय।

मिलि परस्पर विपुल विश्वविधान में दै योग
ओसकण उडुगण दमकि निज करत पूरो भोग।
मरन हित जो मनुज जीयत, मरत पावन हेत
जन्म उत्तम, चलै सो यदि धर्मपथ पग देत,

रहै कल्मषहीन, सब संकल्प दृढ़ ह्वै जायँ;
बड़े छोटे जहाँ लौं भवभोग करए लखायँ
करै तिनको पथ सुगम नहिँ कबहुँ बाधा देय,
लोक में परलोक में सब भाँति यों यश लेय।

लख्यो चौथे पहर प्रभु पुनि 'दुःखसत्य' महान्
पाप सों मिलि घोर कटु जो करत विश्वविधान;
चलति भाथी माहिँ जैसे सीड़ लगि लगि जाय
जाति दहकति आगि जासों बार बार भँवाय।

'आर्य्य सत्यन' माहिँ जो यह 'दुःखसत्य' प्रधान,
पाय तासु निदान देख्यो ध्यान में भगवान
दुःख छायारूप लाग्यो रहत जीवन संग,
जहाँ जीवन तहाँ सोऊ रहत काहू ढंग।

छुटै सो नहिँ कबहुँ जौ लौं छुटै जीवन नाहिँ
निज दशान समेत पलटति रहति जो पल माहिँ—

छूटै जब लौं नाहिं सत्ता और कर्मविकार,
जाति, वृद्धि, विनाश, सुख, दुख, राग, द्वेष अपार।

सुखसमन्वित शोक सब औ दुःखमय आनंद
छुटत नहिं, नहिं होत जब लौं ज्ञान 'ये हैं फंद।'
किंतु जानत जो 'अविद्या के सबै ये जाल'
त्यागि जीवनमोह पावत मोक्ष सो तत्काल।

व्यापक ताकी दृष्टि होति सो लखत आप तब
याहि 'अविद्या' सों जनमत हैं 'संस्कार' सब,
'संस्कार' सों उपजत हैं 'विज्ञान' घनेरे
'नामरूप' उत्पन्न होत जिनसों बहुतेरे।
'नामरूप' सों 'षडायतन' उपजत जाको लहि
जीव विवश ह्वै दर्पण सम बहु दृश्य रहत गहि।
'षडायतन' सों फेरि 'वेदना' उद्भव पावति
जो झूठे सुख औ दारुण दुख बहु दरसावति।
यहै वेदना वा 'तृष्णा' की जननि पुरानी
भवसागर में धँसत जात जाके वश प्रानी;
चल तरंग बिच खारी ताके रहत टिकाई
सुख संपति, बहु साध, मान औ कीर्त्ति, बड़ाई,
प्रीति, विजय, अधिकार, वसन सुंदर, बहु व्यंजन,
कुलगौरव-अभिमान, भवन ऊँचे मनरंजन,

दीर्घआयु-कामना तथा जीबे हित संगर,
पातक संगरजनित, कोउ कटु, कोऊ रुचिकर।
या विधि तृष्णा बुझति सदा इन घूँटन पाई
जो वाको करि दूनी औरहु देत बढ़ाई।
पै ज्ञानी हैं दूर करत मन सों या तृष्णहिँ,
झूठे दृश्यन सों इंद्रिन को तृप्त करत नहिँ।
राखत मन दृढ़ विचलि न काहू ओर डुलावत,
करत जतनजंजाल नाहिँ, नहिँ दुख पहुँचावत
पूर्वकर्म अनुसार परत जो कछु तन ऊपर
सो सब हैं सहि लेत अविचलित चित्त निरंतर।
काम, क्रोध, रागादि दमन सबको करि डारत,
दिन दिन करि कै छीन याहि विधि तिनको मारत।
अंत माहिँ यों पूर्वजन्म को सार भारमय,
जन्म जन्म को जीवात्मा को जो सब संचय—
मन में जो कछु गुन्यो और जो कीनो तन सों,
अहंभाव को जटिल जाल जो बिन्यो जुगन सों
काल कर्म को तानो बानो तानि अगोचर—
सो सब कल्मपहीन शुद्ध ह्वै जात निरंतर।
फिर तो जीवहिं धरन परत नहिँ देहहि या तो
अथवा ऐसो विमल ज्ञान ताको ह्वै जातो,
धरत देह जो फेरि कतहुँ नव जन्महिं पाई
हरुओ ह्वै भवभार ताहि नहिं परत जनाई।

चलत जात आरोहपंथ पै या प्रकार सोँ
मुक्त 'स्कंधन' सोँ, छूटत मायाप्रतार सोँ,
उपादान के बंधन औ भवचक्र हटाई
पूर्णप्रज्ञ ह्वै जगत मनो दुःस्वप्न विहाई,
अंत लहत पद भूपन सोँ, सब देवन सोँ बढ़ि।
जीवन की सब हाय हाय मिटि जाति दूर कढ़ि।
गहत मुक्त शुभ जीवन, जो नहिं या जीवन सम,
लहत चरम आनंद, शांति, **निर्वाण** शून्यतम।
निर्विकार अविचल विराम को यहै ठौर है;
यहै परम गति, जाको नहिं परिणाम और है।

इत बुद्ध ने संबोधि पाई प्रगट उत ऊषा भई।
प्राची दिशा में ज्योति अभिनव दिवस की जो जगि गई,
सो जात सरकत यामिनीपट बीच कारे ढरि रही,
भगवान् की या विजय की मृदु घोषणा सी करि रही।

नव अरुण-आभा-रेख अब धुँधले दिगंचल पै कढ़ी।
नभनीलिमा ज्यों ज्यों निखरि कै जाति ऊपर को बढ़ी
त्यों त्यों सहमि कै शुक्र अपनो तेज खोवत जात है;
पीरो परो, फीको भयो, अब लुप्त होत लखात है।

शुभ दरस दिनकर को प्रथम ही पाय नग छायासने
करि पद्मराग-किरीट-भूषित भाल सोहत सामने।

संचरत प्रात समीर को सुखपरस लहि सुमनहु जगे,
बहु-रंगरंजित दलदृगंचल नवल निज खोलन लगे।

हिमजटित दूबन पै प्रभा मृदु दौरि जो छन में गई
गत रैन के अँसुवान की बूँदें बिखरि मोती भई।
आलोक के आभास सों वा भूमि सारी मढ़ि रही।
उत गगनतट वन पै सुनहरी गोट चमचम चढ़ि रही।

हेमाभ वृंत हिलाय हरपत ताल करत प्रणाम हैं।
गिरिगह्वरन के बीच धँसि जगमगति किरन ललाम हैं।
जलधार मानिक के तरंगित जाल सी दरसाय है।
जगि ज्योति सारे जीव जंतुन जाय रही जगाय है;

घुसि सघन झापस माहिं वन की रुचिर रम्य थलीन के
है कहति "दिन अब ह्वै गयो" चकचौंधि चख हरिनीन के;
जो नीड़ में सिर नींद में गड़ि बीच पंखन के परे
चलि कहति तिनके पास "गीत प्रभात के गाओ, अरे!"

कलरव पखेरुन को सुनाई परत अब जाओ जहाँ;
मृदु कूक कोयल की, पपीहन की बँधी रट 'पी कहाँ';
तितरौंख की 'उठ देख', 'चुह चुह' चपल फूलचुहीन की;
टें टें सुअन की, धुन सुरीली सारिका सूहीन की;

किलकिलन की किलकार, 'काँ काँ' काककंठ कठोर की;
'टर टर' करेटुन की करारी, कतहुँ केका मोर की;
पुलकित परेवन की परम प्रिय प्रेमगाथा रसभरी
जो चुकनहारी नाहिं जौ लौं चुकति नहिं जीवनघरी।

ऐसो पुनीत प्रभाव प्रभु के परम विजयप्रभात को
घर घर बिराजी शांति, झगरो नाहिँ काहू बात को।
झट फेंकि दीनी दूर छूरी बधिक तजि बधकाज को।
लै फेरि धन बटपार दीनो, बणिक छाँड़यो ब्याज को।

भे क्रूर कोमल, हृदय कोमल औरहू कोमल भए
पीयूष सो संचार दिव्य प्रभात को वा लहि नए।
रण थामि दीनो तुरत नरपति लरत जो रिस सोँ भरे।
बहु दिनन के रोगी हँसतमुख उछरि खाटन सोँ परे।

नर मरन के जो निकट सहसा सोउ प्रमुदित ह्वै गए
लखि उदित होत प्रभात मानो देश सोँ काहू नए।
पिय सेज ढिग जो दीन हीन यशोधरा बैठी रही,
हिय बीच वाहू के हरख की धार सी सहसा बही;

मन माहिँ ताके उठति आपहि आप ऐसी बात है
'जो प्रेम साँचो होय कबहूँ नाहिँ निष्फल जात है'।

या घोर दुख को अंत यों सुख भए विनु रहि जायहै
ह्वै सकत ऐसो नाहिं;' आगम परत कछुक जनाय है।

छायो उछाह अपार यदपि न कोउ जानत का भयो।
सुनसान वंजर वीच हू संगीत को सुर भरि गयो।
आगम तथागत को निरखि निज मुक्ति-आस वँधाय कै
मिलि भूत, प्रेत, पिशाच गावत पवन में हरखाय कै।

'जगकाज पूरो ह्वै गयो' नभ देववाणी यह भई;
अति चकित पुरजन वीच पंडित खड़े वीथिन में कई
लखि स्वर्णज्योति-प्रवाह सो जो गगन घेरत जात है,
यों कहत "भाई! भइ अलौकिक अवसि कोऊ वात है।"

वन, ग्राम के सव जीव वैर विहाय विहरत लखि परे।
जहँ दूध वाघिन प्यावती तहँ चित्रमृग सोहत खरे।
वृक मेष मेल मिलाप सों हैं चलत एकहि वाट पै।
गो सिंह पानी पियत हैं मिलि जाय एकहि घाट पै।

भितराय गरल भुजंग मणिधर फन रहे लहराय हैं;
वसि पास चोंचन सों गरुड़ निज पंख रहे खुजाय हैं।
कढ़ि सामने सों जात वाजन के लवा, कछु भय नहीं।
वैठे मगन वक ध्यान में, वहु मीन खेलत हैं वहीं।

बैठे भुजंगे डार पै कहुँ रहे पूँछ हिलाय हैं,
पै आज झपटत नेकु नहिँ तितलीन पै दरसायँ हैं,
या फूल तें वा फूल पै जो चपल गति सोँ धावतीं,
सित, पीत, नील, सुरंग, चित्रित पंख को फरकावतीं।

धरि दिव्य तेज दिनेश सोँ बढ़ि नाशहित भवभार के,
लहि अमित विजय-विभूति जीवन हित सकल संसार के।
वा बोधितरु तर ध्यान में भगवान हैं बैठे अबै
पै तासु आत्मप्रभाव परस्यो मनुज पशु पंछिन सबै।

अब बोधितरु तर सोँ उठे हरखाय कै
प्रभु दिव्य तेज, अनंत शक्तिहि पाय कै।
यह बोलि वाणी उठे अति ऊँचे स्वरै,
सब देश में सब काल में जो सुनि परै—

"अनेक जाति संसारं संधाविसमनिब्बसं।
गहकारकं गवेसंतो दुःखजाति पुनः पुनः।
गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि।
सब्बा ते फासका भग्गा, गहकूटं विसंकितं
बिसंखारगतं चित्तं, तरहानं खयमज्झगा।"

"गहत अनेक जन्म भव के दुख भोगत बहु चलि आयोँ।
खोजत रह्योँ याहि गृहकारहिँ, आज हेरि हौँ पायोँ।

हे गृहकार! फेरि अब सकिहै तू नहिं भवन उठाई।
साज बंद सब तोरि धौरहर तेरो दियों ढहाई।
संस्कार सों रहित सर्वथा चित्त भयो अब मेरो।
तृष्णा को क्षय भयो, मिट्यो यह जन्म जन्म को फेरो।"

सप्तम सर्ग

कपिलवस्तु-गमन

इन बहु वर्षन बीच बसत नरपति शुद्धोदन
पुत्र विरह में शाक्य नायकन बीच खिन्न मन ।
पियवियोग में यशोधरा दुख के दिन पूरति,
छाँड़ि सकल सुख भोग सोग में परी बिसूरति ।
ढोर लिए जो कंजर थल थल डोलनहारे,
लाभ हेतु जो देश देश घूमत बनिजारे
तिनसों काहू यती विरागी की सुधि पावत
नरपति दूत अनेक तहाँ तुरतहि दैारावत ।
ते फिरि आवत, कहत बात बहु साधुन केरी
जो तजि कै घरबार बसत निर्जन थल हेरी ।
पै लायो संवाद नाहिं कोउ ताको प्यारो
कपिलवस्तु के राजवंश को जो उजियारो,
भूपति की सारी आशा को एक सहारो,
यशोधरा के प्रानन को धन सर्वस प्यारो;
कहाँ कहाँ जो भूलो भटको घूमत ह्वैहै
भयो और को और, चीन्हि नहिं कोऊ पैहै ।

देखो यह वासर वसंत को, रसाल फूलि
अंग न समात मंजु मंजरीन सों भरे ।
सारी धरा साजे ऋतुराज साज सोहति है,
सुमन सहित पात चीकने हरे हरे ।
कुँवरि उदास बैठी वाटिका के बीच जाय
कंजपुट-कलित सरिततीर भाँवरे ।
दर्पण सी धार में विलोके बहु बार जहाँ
ओठन पै ओठ, पाणिपाश कंठ में परे ॥

आँसुन पलक भारी, कोमल कपोल छीन,
विरह की पीर अधरान पै लखाति है ।
चपि रही चीकने चिकुर की चमक चारु,
वेणी बीच बँधि नेकु नाहिं वगराति है ।
आभरनहीन पीरी देह पै है सेत सारी,
खचित न जापै कहूँ हेमनगपाँति है ।
पाय पिय बोल गति हरति जो हंसन की
चरन धरत सोइ आज थहराति है ।

स्नेहदीप सरिस नवल जिन नैनन की
कालिमा सों फूटति रही है द्युति अभिराम—
शर्वरी के शांतिपट बीच ह्वै जगति मनो
दिवस की ज्योति कमनीय याही सुखधाम—

ज्योतिहीन, लक्ष्यहीन आज सोइ घूमत हैं,
लखत न नेकु ऋतुराज की छटा ललाम।
पलकैं रही हैं ढरि, उघरत नाहिं पूरी,
अधखुली पूतरी पै बरुनी परी हैं श्याम ।

एक कर माहिँ मोतीजरो कटिबंध सोइ
जाहि तजि कुँवर निकसि गयो रैन वहि ।
हाय ! विकराल सोइ जामिनि जननि भई
केते दुखभरे दिवसन की, न जात कहि ।
गाढ़ो प्रेम एतो नाहिँ निठुर कबहुँ भयो
साँचे प्रेम प्रति ऐसे कहुँ जग बीच यहि ।
एक बात भई यासोँ, जीवन लौँ याही बँधि
मिति यहि प्रेम की हमारे नाहिँ गई रहि।

दूजे कर बीच कर सुन्दर परम निज
बालक को, जासु नाम राहुल धरोगयो,
थाती रूप छाँड़ि कै कुमार चलि गयो जाहि,
बढ़ि कै जो आज सात वर्ष एक को भयो ।
चंचल स्वभावबस डोलन लग्यो है घूमि
जननी के पास इत उत मोद सोँ छयो ।
विभव-विकास पुष्पहास कुसुमाकर को
हेरि हेरि होत है हुलास चित्त में नयो ।

नलिनमय वा पुलिन पै दोउ रहे वसि कछु काल।
हँसत फेंकत जात मीनन ओर मोदक वाल।
बैठि दुखिया जननि निरखति उड़त हँसन ओर,
करति विनय उसास भरि, धरि नीर दृग की कोर—

"हे गगनचर! होय जहँ पिय कढ़ौ जो तहँ जाय,
दीजियो संदेस मेरो ताहि नेकु सुनाय।
दरस हित औ परस हित अति तरसि वहु दुख पाय
दीन हीन यशोधरा अब मरन ढिग गइ आय।"

विहँसि बोलीं अनुचरी वहु आय एते माहिँ
"देवि! अब लौं सुन्यो यह संवाद कैधौं नाहिँ?
त्रपुष, भल्लिक नाम के द्वै सेठ माल लदाय
आज दच्छिण नगरतोरण पास उतरे आय।

दूर देशन फिरत सागरकंठ लौं जे जात
लिए नाना वस्तु जो हैं संग में दरसात—
स्वर्णखचित अमोल अंबर, रत्नजटित कटार,
पात्र चित्र विचित्र, मृगमद, अगर, कुंकुमभार।

किंतु ये सब वस्तु जाके सामने कछु नाहिँ,
परम प्रिय संवाद लाए आज सो पुर माहिँ।

दोउ देखे चले आवत शाक्य राजकुमार,
प्राणपति जीवन तिहारे, देश के आधार।

कहत हम साक्षात् दर्शन कियो तिनको जाय;
दंडवत करि करी पूजा भक्तिभेंट चढ़ाय।
कह्यो बुधजन रह्यो जो सो भए पूर्ण प्रकार,
परम दुर्लभ ज्ञान ज्ञानिन को सिखावनहार।

भए जगदाराध्य प्रभु, अति शुद्ध बुद्ध महान्;
करत नर निस्तार औ उद्धार दै शुभ ज्ञान
मधुर वाणी सों, दया सों, जासु ओर न छोर।
कहत दोऊ सेठ प्रभु हैं चले याही ओर

सुनत शुभ संवाद उमड़्यो हृदय माहिं उछाह,
ज्यों हिमाचल सों उमगि कै कढ़त गंगप्रवाह।
कुँवरि उठि कै भई ठाढ़ी हर्ष पुलकित गात
ढारि दृग सों बूँद मोती सरिस, बोली बात—

"तुरत लाओ जाय सेठन को हमारे पास;
पान हित संवाद के शुभ श्रवण को अति प्यास।
जाव, तिनको तुरत लाओ संग माहिं लिवाय।
कतहुँ जो संवाद तिनको निकसि साँचो जाय!

निकसिहै संवाद जो यह सत्य, कहियो जाय,
अवसि फाँड़न माहिं दैहौं स्वर्ण रत्न भराय।
और तुमहूँ आइयो सँग लेन को उपहार—
ह्वै सकै पै नाहिं सो आनंद के अनुसार।"

चले दोऊ वणिक दासिन संग, आज्ञा पाय
कुँवर के वा रंगभवन प्रवेश कीनो जाय।
चलत कंचनकलित पथ पै धरत धीमे पावँ।
राजवैभव निरखि लोचन चकित हैं सब ठावँ।

कनकचित्रित पट परे जहँ दोउ पहुँचे जाय।
क्षीण, कंपित, मधुर स्वर यह पर्यो कानन आय—
"सेठ! आवत दूर तें हौ; कतहुँ राजकुमार
परे तुमको देखि, ये सब कहति बारंबार।

करी पूजा तासु तुमने, त्यागि जो भवभार
शुद्ध बुद्ध त्रिलोकपूजित ह्वै करत उद्धार।
सुन्यो अब या ओर आवत; कहौ, यदि यह होय
परम प्रिय या राजकुल के होयहौ तुम दोय।"

बोल्यो सीस नवाय त्रपुप "हे देवि, हमारी!
आवत हैं इन नयनन सों हम प्रभुहि निहारी।

पायँन पै हम परे; रह्यो जो कुँवर हिरायो
सब राजन महराजन सोँ बढ़ि वाको पायो।
बोधिद्रुम तर फल्गु किनारे आसन लाई
जासोँ जग उद्धरै सिद्धि सो वाने पाई।
सब को साँचो सखा, सकल जीवनपति प्यारो
पै सब सोँ कहुँ बढ़िकै है सो, देवि! तिहारो,
जाके साँचे आँसुन ही को मोल कहैहै
जो अनुपम सुख प्रभु के वचनन सोँ जग पैहै।
"कुशल च्लेम सोँ हैं" कहिबो यह है विडंबना
सब तापन सोँ परे, तिन्हैँ दुख परसि सकत ना।
भेदि सकल भवजाल गए देवन तें ऊपर,
सत्य धर्म की ज्योति पाय जगमगत भुवन भर।
नगर नगर में ज्यों ज्यों फिरि उपदेश सुनावत
तिन मार्गन को जीव शांतिसुख जिनसोँ पावत,
त्योँ त्योँ पाछे होत जात तिनके नरनारी—
ज्यों पतझड़ के पात वात के ह्वै अनुसारी।
पास गया के रम्य च्लीरिकावन में जाई
हम दोउन ने सुने वचन तिनके सिर नाई।
चौमासे के प्रथम अवसि प्रभु इत पधारिहैं,
उपदेशन सोँ मधुर शोक दुख सकल टारिहैं।

यशोधरा को कंठ हर्ष सों गद्गद भारी,
बड़ी वेर में सँभरि वचन यह सकी उचारी—
"हे सुजान जन ! भलो होयहै सदा तुम्हारो ।
लाए तुम संवाद मोहिं प्राणन तें प्यारो ।
जानत जो तुम होहु, मोहिं अब यही बताओ
कैसे यह सब बात भई, कहि मोहिं सुनाओ ।"

भल्लिक ने तब कही बात वा निशि की सारी,
जानत जाको 'गय' पर्वत के सब नरनारी ।
कैसी घनी अँधेरी में छाया दरसानी,
मारकोप सों कँपी धरा, भो खलभल पानी ।
कैसो भव्य प्रभात भयो पुनि, भानु संग जब
आशा की नव ज्योति जगी सो जीवन हित सब;
कैसे तब भगवान मिले वा बोधिविटप तर
धरे तेज आनंद अलौकिक मुख पै सुन्दर ।
भए आप तो मुक्त बुद्ध संबोधिहि पाई
'कैसे हमसों दुखी जगत् को होय भलाई'
परे सोच में रहे याहि प्रभु कछु दिन ताईं,
बोझ सरीखो एक हृदय पै परत जनाई ।
विषय भोग में लिप्त पापरत जन संसारी,
गहत रहत जो नाना वस्तुन सों भ्रम भारी,

आँखिन पर को परदो जो नहिं चाहत टारन,
उरझे जामें तोरि सकत सो इंद्रियजाल न,
कैसे ऐसे जीव ग्रहण या ज्ञानहिं करिहैं ?
'अष्ट मार्ग' 'द्वादश निदान' कैसे चित धरिहैं ?
येई हैं उद्धारद्वार, पै है विचित्र गति !
खग पींजर में पलो लखत नहिं खुले द्वार प्रति ।
खोजि मुक्ति को मार्ग ताहि नर हेतु कठिन गुनि
आपै इकले चलते जो भगवान् शाक्य मुनि,
जग में काहुहि जानि तत्व को नहिं अधिकारी
तजते जो प्रभु लहते गति कैसे नरनारी ?

सब जीवन पै दया रही पै प्रभु के हृदय समानी;
याहि बीच सुनि परी दुखभरी अतिशय आरत बानी ।
जनु "**नश्यामि अहँ भूर्नश्यति लोकः**" भू चिल्लाई ।
कछुक बेर लौं शांति रही पुनि धुनि पवनहुँ तें आई—

भगवान् ! धर्म सुनाइए, भगवान् ! धर्म सुनाइए ।
भवताप तें हैं जरि रहे अब नेकु बार न लाइए ।

दिव्य दृष्टि भगवान् तुरत प्राणिन पै डारी
देख्यो को हैं सुनन योग्य, को नहिं अधिकारी ;
जैसे रवि, जो करत कनकमय अमल कमलसर,
लखत कौन हैं, कौन नाहिं कलियाँ विगसन पर ।

बोलि उठे भगवान् "सुनैं जो जहाँ जहाँ हैं ;
अवसि सिखैहौं धर्म, सिखैं जो सीखन चाहैं ।"

भिक्षु पंचवर्गीय ध्यान में प्रभु के आए ।
वाराणसि की ओर तुरत भगवान् सिधाए ।
तिन ही को उपदेश प्रथम प्रभु जाय सुनायो,
'धर्मचक्र' को कियो प्रवर्त्तन ज्ञान सिखायो ।
मंगलमय 'मध्यमा प्रतिपदा' तिन्हैं वताई
'आर्य्य सत्य' गत दियो 'मार्ग अष्टांग' सुझाई ।
जन्म मरण सों छूटि सकत हैं कैसे प्रानी,
पूरो जतन वताय बुद्ध वोले यह वानी—
"है मनुष्य की गति वाही के हाथन माहीं,
पूर्व कर्म को छाँड़ि और भावी कछु नाहीं ।
नहिं ताके अतिरिक्त नरक है कोऊ, भाई!
आपहिं नर जो लेत आपने हेतु वनाई ।
स्वर्ग न ऐसो कोउ जहाँ सो जाय सकत नहिं
जो राखत मन शांत, दमन करि विषय वासनहिं ।"

पाँच जनन में भयो प्रथम कौंडिन्य सुदीक्षित
'चार सत्य', 'अष्टांग मार्ग' में ह्वै कै शिक्षित ।
महानाम, पुनि भद्रक, वासव और अश्वजित
धर्म मार्ग में करि प्रवेश ह्वै गए शांत चित ।



'यश' नामक पुनि एक सेठ काशी को भारी
बुद्ध शरण गहि भयो प्रव्रज्या को अधिकारी।
चार मित्र सुनि तासु भए पुनि भिक्षुक आई।
पुरजन और पचास प्रव्रज्या प्रभु सों पाई।
परी कान में जहाँ जहाँ बानी प्रभु केरी
उपजी तहँ तहँ नवयुग की सी शांति घनेरी ;
ज्यों पावस की धार परत जब पटपर ऊपर
नव तृण अंकुर लहलहाय फूटत अति सुंदर।

पठयो प्रभु इन साठ भिक्षुकन को प्रचार हित
पाय तिन्हें संयमी, विरागी और धीर चित।
इसिपत्तन मृगदाव माहिँ यह संघ बनाई
गए राजगृह पास यष्टिवन ओर सिधाई।
कछुक दिनन लौं रहे तहाँ उपदेश सुनावत।
बिंबसार नृप, पुरजन परिजन लौं सब यावत्
भए बुद्ध की शरण प्राप्त सब मोह बिहाई
धर्म, शील, संयम, निरोध की शिक्षा पाई।
कुश लै कै संकल्प दियो करि भूपति ने तब
परम सुहावन रम्य वेणुवन 'संघ' हेतु सब,
जामें सुंदर गुहा सरित, सर, कुंज सुहाए।
शिला तहाँ गड़वाय नृपति ये वाक्य खुदाए—

**ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह।
तेसं च यो निरोधो एवं वादी महासमणो।**

"हेतु तें उत्पन्न जो हैं धर्म—दुखसमुदाय—
हेतु तिनको कहि तथागत ने दियो सब आय।
और तासु निरोध हू पुनि महाश्रमण बताय
लियो या बूड़त जगत को बाहँ देय बचाय।"

सोइ उपवन माहिँ बैठ्यो संघ एक महान्
ओजपूर्ण अपूर्व भाख्यो ज्ञान श्रीभगवान्।
सुनत सब पै गयो दिव्य प्रभाव ऐसो छाय,
आय नौ सौ जनन ने लै लियो वस्त्र कषाय

और लागे जाय कै ते करन धर्मप्रचार।
बुद्ध ने यों कहि विसर्जित कियो संघ अपार—

**सब्ब पापस्स अकरणं; कुसलस्स उपसंपदा
सचित्त परियोदवनं एतं बुद्धानुसासनं।**

"करिबो पाप न कोउ संचिबो शुभ है जेतो,
करिबो चित्त निरोध बुद्ध अनुशासन एतो।"

या विधि सेठन ने सारी कहि कथा सुनाई ।
यशोधरा ने भारी तिनकी करी विदाई ।
कंचन रत्न भराय थार सम्मुख धरवायो ।
चलत चलत यह पूछन हित पुनि तिन्हैं बुलायो
"कौन मार्ग धरि केते दिन में ऐहैं प्यारे ?"
फिरि कै दोऊ सेठ बोलि यह वचन सिधारे—
"या पुर के प्राचीरन सों, हे देवि ! गुनत हम,
परत राजगृह नगर साठ योजन तें नहिं कम ।
आवत तहँ सों सुगम मार्ग करि पार पहारन,
सोन नदी के तीर तीर है कढ़त कछारन ।
चलत शकट के बैल हमारे आठ कोस नित,
एक मास में वाँ सों चलि कै आवत हैं इत ।"

परी नृप के कान में जब बात यह सब जाय
अश्वचालन में चतुर सामंत नौ बुलवाय
यह सँदेसो कहि पठायो अलग अलग सप्रीति—
"बिन तिहारे गए कलपत सात वत्सर बीति ।

रह्यों निशि दिन खोज में सब ओर दूत पठाय,
चिता पै अब चढ़न के दिन गए हैं नियराय ।
विनय यातें करत हौं अब बोलि बारंबार,
जहँ तिहारो सबै कछु तहँ आय जाव कुमार ।

राजपाट विलात, तरसति प्रजा दरस न पाय ।
अतिथि थोरे दिनन को हौ, मुख दिखाओ आय ।"
यों दूत छूटि यशोधरा की ओर सों गे धाय
संदेस लै यह "राजकुल की रानि, राहुल-माय

मुख देखिबे के हित तिहारो परम व्याकुल छीन—
जैसे कुमुदिनी बाट जोहति चन्द्र की ह्वै दीन ;
जैसे अशोक विकाश हित निज रीति के अनुसार
पियराय जोहत रहत कोमल तरुणि-चरण-प्रहार ।

जो तज्यों वासों बढ़ि पदारथ मिलो जो कोउ होय,
है अवसि तामें भाग ताहू को ; चहति है सोय ।"

तुरत शाक्य सामंत मगध की ओर सिधारे ।
पै पहुँचे वा समय वेणुवन बीच वेचारे
रहे धर्मउपदेश करत भगवान् बुद्ध जब ।
लगे सुनन ते, भूलि गए संदेस आदि सब ।
रह्यो ध्यान नहिं महाराज को कछु मन माहीं
और कुँवर की रानी हू की सुधि कछु नाहीं ।
चित्रलिखे से रहे, सके नहिं वचन उचारी ;
रहे अचल अनिमेप दृष्टि सों प्रभुहि निहारी ।
मति गति थिर ह्वै गई सुनत प्रभु की शुभ बानी
ज्ञानदायिनी, ओजभरी, करुणारस-सानी ।

ज्यों खोजन आवास भ्रमर कोउ निकसत बाहर,
लखत मालती फूल कहूँ छाए खिलि सुन्दर,
औ पवनहुँ में मधुर महक तिनकी है पावत,
आँधी पानी राति अँधेरी मनहिं न लावत,
बैठत विकसित कुसुमन पै तिन अवसि जाय कै,
गहत मधुर मकरंदसुधा निज मुख गड़ाय कै,
त्यों पहुँचे ते सबै शाक्य सामंत तहाँ जब
बुद्ध-वचन-पीयूष पान करि भूलि गए सब;
रह्यो चेत कछु नाहिं कौन कारज सों आए।
भिक्षुसंघ में मिले जाय, नहिं कछु कहि पाए।

बीते जब बहु मास बहुरि नहिं कोऊ आयो
कालउदायी सचिवपुत्र को नृपति पठायो,
बालसखा जो रह्यो कुँवर को अति सहकारी,
जापै भूपति करत भरोसो सब सों भारी ।
पै सोऊ ह्वै गयो भिक्षु तहँ मूँड़ मुड़ाई,
रहन लग्यो प्रभुसंघ माहिँ घरबार बिहाई।

एक दिवस ऋतु परम मनोहर रही सुहाई;
बोल्यो प्रभु के निकट जाय सो अवसर पाई—
"हे भगवन् ! यह बात उठति मेरे मन माहीं,
एक ठौर को वास उचित भिक्षुन को नाहीं।

तृषित भूमि कों तिन्हहूँ चाहिए धर्म प्रचारैं ।
भलो होय, प्रभु कपिलवस्तु की ओर पधारैं,
जहाँ भूप तव वृद्ध पिता तरसत दर्शन हित
औ राहुल की माता दुख सों विकल रहति नित ।"

बोले तब भगवान् बिहँसि सब की दिशि हेरी—
"अवसि जायहीं, धर्म और इच्छा यह मेरी ।
आदर में ना चूकै कोऊ मातुपिता के,
जो हैं जीवन देत, सकल साधन वश जाके,
जाको लहि नर चाहैं तो सो जतन सकत करि
जन्म मरण को बंधन जासों जाय सकल टरि ।
लहै चरम आनंदरूप निर्वाण अवसि नर
रहै धर्म के पालन में जो निरत निरंतर,
दहै पूर्व दुष्कर्म, तार हू तिनको तोरै,
हरुओ करतो जाय भार, पुनि और न जोरै,
होय प्रेम में पूर्ण दया दाक्षिण्य भाव भरि,
जीवन अपनो देय आप परहित अर्पित करि ।
महाराज के पास जाय यह देहु जनाई
आवत हौं आदेश तासु निज सीस चढ़ाई ।"
कपिलवस्तु में बात जाय जब पहुँची सारी,
अगवाई के हेतु कुँवर के सब नर नारी

अति उछाह सोँ करन लगे नाना आयोजन
भूलि सकल निज काम धाम, निद्रा औ भोजन।

पुरदक्षिणद्वार के पास घनो
अति चित्र विचित्र वितान तनो ;
जहँ तोरण खंभन पै, बिगसे
नव मंजु प्रसून के हार लसे।

पट पाट के, कंचनतार भरे,
वहु रंग के चारहु ओर परे!
शुभ सोहत वंदनवार हरे,
घट मंगल द्रव्य सजाय धरे।

पुर के सब पंकिल पंथ भए
जब चंदननीर सोँ सीँचि गए।
नव पल्लव आमन के लहरैं;
सुठि पाँति पताकन की फहरैं।

नरपाल-निदेश सुन्यो सब ने—
पुरद्वार पै दंति रहैं कितने
सजि स्वर्ण वरंडक सोँ सिगरे
सित दंत चमाचम साम धरे;

धुनि धौंसन की घहराय कहाँ,
सब लेयँ कुमारहिं जाय कहाँ,

कहँ वारवधू मिलि गान करैं,
वरसाय प्रसून प्रमोद भरैं;

पथ फूलन सों यहि भाँति भरै
जहँ पावँ कुमार-तुरंग धरै
धँसि टाप न तासु लखाय परैं;
मिलि लोग सबै जयनाद करैं।

यहि भाँति नरेशनिदेश भयो,
सब के हिय माहिँ उछाह छयो।
दिन ऊगत नित्य सबै अकनैं
कहुँ आगम दुंदुभि वाजि भनैं।

धाय मिलन हित पियहि प्रथम धरि चाह अपार
गइ यशोधरा शिविका पै चढ़ि पुर के द्वार।
जाके चहुँ दिशि लसत रम्य न्यग्रोधाराम,
जहँ सोहत बहु विटप वेलि वीरुध अभिराम।
झूमति दोऊ ओर फूल फल सों झुकि डार;
हरियाली बिच घूमि घूमि पथ कढ़े सुढार।
राजमार्ग चलि गयो धरे सोइ उपवन-छोर।
परति अंत्यजन की बस्ती है दूजी ओर,
पुर-बाहर जे वसत वेचारे सब विधि दीन,
छुअत जिन्हैं द्विज नाहिं मानि कै अतिशय हीन।

तिनहूँ बीच उछाह नाहिं थोरो दरसात,
इत उत डोलन लगत सबै ज्यों होत प्रभात ।
घंटन को रव, बाजन की धुनि कहुँ सुनि पाय
लखत मार्ग मैं कढ़ि, पेड़न चढ़ि सीस उठाय ।
पै जब आवत नाहिँ कतहुँ कोउ परै लखाय
लगत झोपड़िन को सँवारिबे में पुनि जाय ।
करत द्वार निज फेरि झकाझक झारि बहारि,
पोंछि चौखटन, लीपि चौतरन, चौक सुधारि ।
पुनि अशोक की लाय लहलही कोमल डार
चुनि चुनि पल्लव गूँथत नूतन बंदनवार ।
पूछत पथिकन सोँ निकसत जो वा मग जाय
"कतहुँ सवारी रही कुँवर की या दिशि आय?"
यशोधरा हू चाह भरे चख तिनपै डारि
पथिकन को उत्तर सुनती झुकि पंथ निहारि ।

मुंडी एक अचानक आवत परयो लखाय
धारे वसन कषाय कंध पर सोँ लै जाय ।
कबहुँ पसारत पात्र जाय दीनन के द्वार;
पावत लेत, न पावत लावत बढ़त न बार ।
ताके पाछे रहे भिक्षु द्वै औरहु आय
लिए कमंडल कर में, धारे वसन कषाय ।

पै जो तिनके आगे आवत धरि पथतीर
ऐसी गौरवभरी तासु गति अति गंभीर,
फूटति ऐसी दिव्य दीप्ति कढ़ि चारों ओर,
ऐसो मृदुल पुनीत भाव दरसत दृगकोर
भिक्षा लै जो देन वढ़त दोउ हाथ उठाय
चित्र लिखे से चकित चाहि मुख रहत ठगाय।
कोऊ कोऊ धाय परत पायँन पै जाय;
फिरत लेन कछु और दीनता पै पछिताय।
धीरे धीरे लगे नारि, नर, वालक संग
कानाफूसी करत परस्पर ह्वै कै दंग—
"कहौ कौन यह? कहौ, कछू आवत मन माहिँ?
ऋषि तो ऐसो परो लखाई अब लौं नाहिँ।"
चलत चलत सो पहुँच्यो ज्यों मंडप नियराय
खुल्यो पाटपट, यशोधरा चट पहुँची धाय।
ठाढ़ी पथ पै भई अमल मुखचंद्र उघारि
"हे स्वामी! हे आर्य्यपुत्र!" यह उठी पुकारि।
भरे विलोचन वारि, जोरि कर, सिसकि अधीर
देखत देखत परी पायँ पै पथ के तीर।

जब दीक्षित ह्वै चुकी धर्म में राजवधू वह
एक शिष्य ने जाय करी प्रभु सों शंका यह—

"सब रागन सोँ रहित, वासना सकल निवारी,
त्यागि कामिनी-परस कुसुमकोमल मनहारी
यशोधरा को करन दियो प्रभु क्यों आलिंगन ?"
सुनत बुद्ध भगवान् वचन बोले प्रसन्न मन—
"महाप्रेम योँ छोटे प्रेमन देत सहारो
सहजहि ऊँचे जात ताहि लै दै पुचकारो ।
ध्यान रहै जो कोउ छूटि बंधन सोँ जावै
मुक्तिगर्व करि बद्ध जीव कबहूँ न दुखावै ।
समुझि लेहु यह मुक्ति लही है जाने, भाई !
एक बार ही नाहिँ कतहुँ काहू ने पाई ।
जन्म जन्म बहु जतन करत औ लहत ज्ञानबल
आवत हैं जो चले, अंत में पावत यह फल ।
तीन कल्प लौँ करि प्रयास अति प्रबल अखंडित
बोधिसत्त्व हैं मुक्त होत जग की सहाय हित ।
प्रथम कल्प में होत 'मनः प्रणिधान' श्रेष्ठतर ;
बुद्ध होन की जगति लालसा मन के भीतर ।
होत 'वाक् प्रणिधान' दूसरे कल्प माहिँ पुनि ;
'ह्वै जैहौं मैं बुद्ध' कहत यह बात परत सुनि ।
लहत तीसरे कल्प माहिँ 'विवरण' पुनि जाई
"अवसि होहुगे बुद्ध" बुद्ध कोउ बोलत आई ।*

*'मनः प्रणिधान' के उपरांत सर्वभद्रकल्प में जब गौतम धन्यदेशीय सम्राट के पुत्र हुए तब उन्होंने कहा "मैं बुद्ध हूँगा" । सारमंद नामक

प्रथम कल्प में रह्यों ज्ञान शुभ मार्ग गुनत सब,
पै आँखिन पै परदो मेरे परो रह्यो तबै।
भयो न जाने किते लाख वर्षन को अंतर
'राम' नाम को वैश्य रह्यों जब सागर तट पर,
परति सामने स्वर्णभूमि दक्षिण दिशि जाके
निकसत सीपिन सों मोती जहँ बाँके बाँके।
यशोधरा यह रही संगिनी तबहुँ हमारी,
लक्ष्मी ताको नाम, रही ऐसिय सुकुमारी।
घर दरिद्र अति रह्यो, मोहिं सुधि आवति सारी।
लाभ हेतु परदेस कढ़्यों मैं दशा निहारी।
लक्ष्मी तबहूँ आँसुन सों आँखैं भरि लीनी;
"बिलग न मोसों होहु" बोलि यों विनती कीनी—
"जलथल पथ की विकट आपदा क्यों सिर लैहौ?
चाहत एतो जाहि ताहि तजि कैसे जैहौ?"
पै मैं साहस सहित गयों चलि सागर पथ पर।
पथ के अंधड़ झेलि और श्रम करि अति दुष्कर,

तीसरे कल्प में वे पुष्पवती के राजा सुनंद के पुत्र हुए। इसी कल्प में उन्हें तृष्णांकर बुद्ध द्वारा 'अनियत विवरण' (अर्थात् तुम बुद्ध हो सकते हो) और दीपंकर बुद्ध द्वारा 'नियत विवरण' (अर्थात् तुम अवश्य बुद्ध होगे) प्राप्त हुआ। कहीं कहीं बोधिसत्व की तीन अवस्थाओं के नाम 'अभिनीहार' (बुद्धत्व की आकांक्षा), व्याकरण (किसी तथागत की भविष्यद्वाणी कि तुम बुद्ध होगे), और हलाहल (आनंदध्वनि) भी मिलते हैं।

काहू विधि जलजंतुन सोँ निज प्राण बचाई,
घोर धूप औ निविड़ निशा की सहि कठिनाई,
अवगाहत जल लह्यो एक मोती अति निर्मल
पानी जासु असोल, चंद्र सी आभा उज्वल;
सकत जाहि लै केवल कोऊ भूपहि भारी
रीतो करि निज कोष, द्रव्य निज सकल निकारी।
फिरि प्रसन्न मन, लख्योँ ग्राम के गिरि नयनन भरि;
किंतु घोर दुर्भिक्ष देश भर माहिं रह्यो परि।
पथ के कठिन परिश्रम सोँ ह्वै चूर शिथिल अति,
भूख प्यास सोँ विकल, मंद परि रही अंग गति।
पहुँच्योँ काहू भाँति द्वार पै अपने जाई,
सागर को सित रत्न फेंट में कसे छपाई।
एतो श्रम सब जाके हित मैं जाय उठायोँ
ताको परी अचेत द्वार पै अपने पायोँ!
भई कंठगत प्राण, सकति नहिं नयनन खोली,
अन्न विना मरि रही, कढ़ति नहिं मुख सोँ बोली।
कह्यो घूमि चिल्लाय "अन्न कछु होय जासु घर
एक जीव हित धरौँ राज को मोल तासु कर।
लक्ष्मी के मुख माहिं अन्न जो थोरो नावै
चंद्रप्रभ यह रत्न आय मोसोँ लै जावै।"
अपनो अंतिम संचय लै इक पहुँच्यो सुनि यह।
तीन सेर बाजरो तौलि लै गयो रत्न वह

परृयो प्राण तन, लै उसास लक्ष्मी बोली तब—
"सत्य तिहारो प्रेम, त्याग लखि परृयो मोहिं अब।"
मुक्ता जो वा पूर्व जन्म में मैंने पाई,
भले काज में मैंने दीनी ताहि लगाई।
एक जीव के सुख हित दीनी सो छन माहीं
देखी काहू भाँति और रक्षा जब नाहीं।

औरहु गहरे धँसि अथाह में पाय बोधिबल
लह्यों अंत में अति अलभ्य जो यह मुक्ताफल,
सत्य धर्म 'द्वादश निदान' मय रत्न अनोखो,
छीजि सकत नहिं, होत दिए सों औरहु चोखो।
गुनौ मेरु के आगे ज्यों वल्मीक पुरानो,
जैसे वारिधि आगे तुम गोपदजल जानो
तैसोई सो दान दान के आगे या मम
जासों मंगल होय जीव को छूटै सब भ्रम।
ऐसोई यह प्रेम आज को बड़ो हमारो
इंद्रिन के भ्रमबंधन सों ह्वै सब विधि न्यारो;
नयो सहारो देन हेतु जो जीवहि निर्बल
है महत्त्व यह याको; नहिं कछु संशय को थल।
यशोधरा यों पाय प्रेम को मृदुल सहारो
बढ़ी शांति-सुख-मार्ग ओर संशय तजि सारो।

———

भूप ने जब सुन्यो कैसे आय पुर के द्वार
धरि उदासी वेष मूँड़ मुड़ाय राजकुमार
रह्यो नीचन द्वार भिक्षा हेतु कर फैलाय,
कोपपूरित छोभ छायो, गयो प्रेम भुलाय।

श्वेत मूँछन ऐंठि बारंबार पीसत दाँत
कढ़यो बाहर संग लै सामंत कंपित गात;
तमकि तीखे तुरग पै चढ़ि, रोष सहित निहारि,
चल्यो बीथिन बीच बढ़ि जहँ भरे पुरनरनारि।

चकित चितवत रहि गए जे रहे वा मग जात;
कहन पायो काहु सों नहिं कोउ एती बात
"अरे! आवत महाराजधिराज देखत नाहिं?"
राजदल कढ़ि गयो खम खम करत एते माहिं।

मुर्‌यो मंदिर पास सो जब पर्‌यो लखि पुरद्वार,
मिली आवति भूप को निज ओर भीर अपार,
लोग चारों ओर सो चलि मिलत जामें जात,
बढ़ति छिन छिन जाति जो, नहिं कतहुँ पंथ लखात।

भिक्षु सो लखि पर्‌यो जाके संग एती भीर।
गयो कोप हिराय नृप को जवै वा पथ तीर

तासु व्याकुल वदन बुद्ध विलोकि मृदु टक लाय,
तेजपूरित विनय सों नै लियो दीठि नवाय ।

निज कुँवर को सो भाव भूपहि पर्‌यो अति प्रिय जानि
पहिचानि पूर्ण स्वरूप ताको और मन अनुमानि
भव विभव सों बढ़ि सकल तासु विभूति और प्रताप
यों सहमि जासों चलत सँग सब शांति सों चुपचाप ।

नृप तदपि बोल्यो "कहा होनो रह्यो याही, हाय!
यों दबे पाँयन कुँवर अपने राज ही में आय,
तन धारि कंथा फिरै माँगत भीख सब के द्वार
जहँ देवदुर्लभ रह्यो जीवन तासु या संसार ?

ऐश्वर्य यह, हे पुत्र! सारो रह्यो तेरो दाय ।
तिन नृपन के वर वंश में तू जन्म लीनो आय
जे लहत कर-संकेत करि जो चहत भूतल माहिं,
आदेश-पालन माहिं जिनके कोउ चूकत नाहिं ।

धरि चहत आवन रह्यो तोहिं परिधान पद अनुसार
लै संग, भाले करत चम चम, चपलगति असवार ।
यह देखु ! डेरे डारि सैनिक परे सब पथतीर,
तोहि लेन आगे सों खड़ी पुरद्वार पै यह भीर ।

तू रह्यो एते दिनन लौं कहँ फिरत राजकुमार ?
दिन राति रोवत रह्यों ढोवत मुकुट को या भार ।
घर बैठि तेरी बधू विधवा सी दशा तन लाय
ह्वै रही दीन मलीन अति, सुखसाज सकल विहाय ।

नहिं सुन्यों कबहूँ गीत वा मृदु बीन की झनकार,
नहिं धरयो तन पै कबहुँ सुंदर वसन एकहु बार,
आगमन सुनि बस आज धारयो स्वर्णवस्त्र सजाय
निज भिक्षुपति सों मिलन हित, जो धरे वास कषाय ।

हे सुत ! कहौ, यह कहा ?" उत्तर दियो तब प्रभु हेरि
"हे तात ! यह कुलधर्म मेरो ;" सुनि कह्यो नृप फेरि
"लै महासम्मत सों भए सौ भूप तव कुल माहिं ;
पै कियो काहू ने कबहुँ तो काज ऐसो नाहिं ।"

बोले प्रभु "कुलपरंपरा मर्त्यन की नाहीं,
पै बुद्धन के अवतारन की जुग जुग माहीं ।
पहले हू हैं भए बुद्ध, आगे हू ह्वैहैं ;
तिनहीं में से एक हमहुँ, हे तात ! कहैहैं ।
जो कछु वे करि गए कियो मैंने सोई अब,
जो कछु अब ह्वै रह्यो भयो पहले हू सो सब ।
नृपति एक धरि वर्म जाय निज पुर के द्वारन
मिल्यो पुत्र सों, धरे रह्यो जो भिक्षुवेष तन,

सत्य प्रेम संयम के बल जो अमित शक्तिधर,
परम प्रतापी भूपालन सों कतहुँ श्रेष्ठतर,
सकल जगत् को करनहार उद्धार तथागत
नायो जो निज सीस याहि विधि जैसे मैं नत।
समुझि पितृऋण औ लौकिक प्रेमहिं अपनाई
पाई जो निधि तासु प्रथम फल सम्मुख लाई,
चाह्यो अर्पित करन पिता को अति प्रसन्न मन,
जैसे ह्याँ, हे तात ! आज मैं चाहत अर्पन।"

"कौन सी निधि ?" नृपति पूछ्यो चाह सों चकराय
पकरि कर नरपाल को भगवान् तव हरखाय;
चले वीथिन बीच भाखत शान्तिधर्मनिदान,
'आर्य सत्य' महान् जामैं संपुटित सब ज्ञान।

कह्यो पुनि 'अष्टांग मार्ग' बुझाय जाके बीच
जो चहै सो चलै राजा रंक, द्विज औ नीच।
पुनि बताए मोक्ष के सोपान आठ उदार
जिन्हैं चाहैं जो गहैं नर नारि या संसार—

मूर्ख, पंडित, बड़े, छोटे, युवा जरठ समान—
छूटि या भवचक्र सों यों लहैं पद निर्वान।
चलत पहुँचे जाय ते प्रासाद के अब द्वार।
नृपति नाहिं अघात निरखत प्रभुहि बारंबार,

पीयूष से प्रिय वचन पुलकित पियत डोलत साथ
अति भक्ति सों भगवान् को लै पात्र अपने हाथ ।

यशोधरा के खुले नयन नव ज्योतिहि पाई,
सूखे आँसू आनन पै मृदु आभा छाई ।
या विधि वा शुभ रैन राजकुल बोलि बुद्ध जय
शान्ति मार्ग में चलि प्रवेश कीनो मंगलमय ।

अष्टम सर्ग

उपदेश

वा रोहिणी के तीर खँड़हर आज लौं फैलो परो
जहँ दूब सों छायो गयो बहु दूर लौं पटपर हरो।
ईशान दिशि वाराणसी सों शकट चढ़ि जो जाइए
तो पाँच दिन को मार्ग चलि वा रम्य थल को पाइए,

लखि परत जहँ सों धवल हिमगिरिशृंग; जो फूलो फरो
है रहत बारह मास, सिंचित सरस बागन सों भरो;
जहँ लसत ढार सुढार, शीतल छाहँ मृदु सौरभ लिए।
है अजहुँ भाव पुनीत बरसत ठौर वा जो जाइए।

नित बहत सांध्य समीर ह्वै अति शांत झाड़न पै हरे
जहँ ढेर चित्रित पाथरन के ढूह ह्वै कारे परे,
अश्वत्थ जिनको भेदि फैले मूलजाल बिछाय कै,
जो लसत चारो ओर तृणदल-तरल-पट सों छाय कै।

कढ़ि कतहुँ कारुज काठ के बहु साज सों जो नसि धँसो
चुपचाप फेंटी मारि कारो नाग फलकन पै बसो।

आँगनन में जिन नृपति टहरत फिरत गिरगिट हैं तहाँ
अब स्यार वेदी तर वसत तहँ सजत सिंहासन जहाँ।

वस शृंग, सरित, कछार और समीर ज्यों के त्यों रहे
नसि और सब शोभा गई, वे दृश्य जीवन के बहे।
नृप शाक्य शुद्धोदन वसत ह्याँ राजधानी यह रही।
भगवान् जहँ उपदेश भाख्यो एक दिन सो थल यही।

पूर्व काल में कबहुँ रह्यो यह थल अति सुंदर।
याके चहुँ दिशि लसत रम्य आराम मनोहर।
बाटैं बिच बिच कटीं; सेतु नारिन पै सोहत,
चलत रहत जलयंत्र, सरोवर जनमन मोहत।
पाटल के परिमंडल भीतर चमकत चत्वर।
लसत अनेक अलिंद, खंभ बहु सोहत सुंदर।
इत उत तोरण राजभवन के कहुँ बढ़ि आए
चमकत जिनके कलश दूर सों रविकर पाए।
याही थल भगवान् एक दिन बैठे आई;
भक्ति भाव सों घेरि लोग प्रभु दिशि टक लाई
जोहत मुख सुनिबे को वाणी ज्ञान भरी अति,
जाको लहि जग शांत वृत्ति गहि तजी क्रूर मति;
नर पंचाशत् कोटि आज लौं जाके अनुगत,
काटन हित भवपाश आस करि होत धर्मरत।

बीच में भगवान् सोहत शाक्य भूपति तीर।
घेरि चारों ओर सों सामंत बैठे धीर—
देवदत्त अनंद आदिक सभा के सब लोग
धर्मदीक्षा पाय दीनो 'संघ' में जो योग।

मौद्गलायन सारिपुत्रहु बसे प्रभु पश्चात्
'संघ' माहिँ प्रधान सब सों शिष्य जे कहि जात।
रह्यो राहुल हू हँसतमुख गहे प्रभु-पट-कोर,
बाल चख सों चकित चितवत भव्य मुख की ओर।

चरण ढिग भगवान् के बसि रही गोपा जाय;
आज तन-मन-पीर ताकी गई सकल नसाय।
भयो साँचे प्रेम को वा बोध अंतस् माहिँ
क्षणिक इंद्रियवेग पै अवलंब जाको नाहिँ।

भयो भासित नयो जीवन जरा जाहि न खाति
और अंतिम मृत्यु जासों मृत्यु ही मरि जाति।
भई भागिनि या विजय की सोउ प्रभु के संग
मानि आपहि धन्य फूलि समाति ना निज अंग।

भगवान् के काषाय पट को छोर सिर पै डारि,
शुचि वाम कर पै तासु सादर रही निज कर धारि।

निकटस्थ अति या भाँति ताकी परति सो दरसाय
त्रैलोक्य वाणी जासु जेहि हत रह्यो अति अकुलाय ।

भगवान के मुख सोँ कढ़्यो जो ज्ञान परम नवीन
कहि सकौँ तासु शतांश हू मैं नाहिँ अति मतिहीन ।
या काल में वसि बात सब मैं सकौं कैसे जानि ?
हिय धरौँ बस कछु भक्ति प्रभु के प्रेम को पहिचानि ।

आचार्यगण जो लिखि गए प्राचीन पोथिन माहिँ
हौं कहौँ तासोँ बढ़ि कछू सामर्थ्य एती नाहिँ ।
भगवान् ने जो दियो वा उपदेश को कछु सार
जो कछू थोरो बहुत जानत कहत मति अनुसार ।

उपदेश केते सुनन आए करै गिनती कौन ?
प्रत्यक्ष जे लखि परे तहँ वसि सुनत धारे मौन
कहुँ रहे तिनसों लाख और करोरगुन अधिकाय ।
सव देव पितर अदृश्य ह्वै तहँ रहे भीर लगाय ।

सब लोक ऊपर के भए सूने निपट वा काल ।
छुटि नरक हू के जीव आए तोरि साँसति-जाल ।
बिलमी रही बढ़ि अवधि सोँ रविज्योति परम ललाम
अनुराग सोँ अति झाँकते गिरिश्रृंग पै अभिराम ।

रैन मानो घाटिन में, वासर पहारन पै,
ठमकि सुनत वानी प्रभु की सुधाभरी ।
बीच में सलोनी साँझ अप्सरा सो मानो कोउ,
मति गति खोय थकी मोहित सी जो खरी ।
छिटके धुवा से घन कुंतलकलाप मानो,
तारावलि मोतिन की लरी बिखरी परी ।
अर्द्धचंद्र सोइ मानो बेंदी बिलसति भाल,
तम को पसार मानो नील सारी पातरी ।

सुरभित मंद मंद वहत समीर, सोइ
मानो थामि थामि साँस छाँड़ति विसारि गात ।
सुंदर समय पाय बसि याही ठौर शुचि
करि रहे प्रभु उपदेश अति अवदात ।
जाने जाने सुने जाने सुने अनजाने सब—
ऊँच, नीच, आर्य, म्लेच्छ, कोल, भील औ किरात—
परति सुनाय तिन्हैं बोलिन में निज निज
भाखत जो जात भगवान् ज्ञानभरी बात ।

नर, देव, पितरन की कहा जो रहे भीर लगाय
सब, कीट, खग, मृग आदि हू को परत कछुक जनाय
वा प्रेम को आभास जो प्रभु हृदय माहिँ अपार ।
बँधि रही आशा तिन्हैं प्रभु के वचन के अनुसार ।

जे वँधे सारे जीव नाना रूप देहन संग—
वृक, वाघ, मर्कट, भालु, जंवुक, श्वान, मृग सारंग,
वहु रत्नमंडित मोर, मोतीचूर-नयन कपोत,
सित कंक, कारे काग आमिष भोज जिनको होत,

अति प्लवनपटु मंडूक, गिरगिट, गोह, चित्र भुजंग,
झष चपल उछरत झलकि जो छलकाय सलिलतरंग,
सव जोरि नातो मनुज सोँ, जो शुद्ध तिन सम नाहिँ,
अव कटन वंधन चहत गुनि यह मुदित हैँ मन माहिँ।

नृप को सुनाय सव धर्मसार
उपदेश कियो प्रभु या प्रकार—

ओं अमितायु !

अप्रमेय को न शव्द बाँधि कै वताइए,
जो अथाह ताहि योँ न वुद्धि सोँ थहाइए।
ताहि पूछि औ वताय लोग भूल ही करैँ;
सो प्रसंग लाय व्यर्थ वाद माहिँ ते परैँ।

अंधकार आदि में रह्यो पुराण योँ कहै,
वा महानिशा अखंड वीच ब्रह्म ही रहै।

फेर में न ब्रह्म के, न आदि के रहौ, अरे !
चर्मचक्षु को अगम्य और बुद्धि के परे।

देखि आँखिन सों न सकिहै कोउ काहु प्रकार
औ न मन दौराय पैहै भेद खोजनहार।
उठत जैहैं चले पट पै पट, न ह्वैहै अंत;
मिलत जैहैं परे पट पै पट अपार अनंत।

चलत तारे रहत पूछन जात यह सब नाहिं।
लेहु एतो जानि बस—हैं चलत या जग माहिं
सदा जीवन मरण, सुख दुख, शोक और उछाह,
कार्य कारण की लरी औ कालचक्र-प्रवाह,

और यह भवधार जो अविराम चलति लखाति,
दूर उद्गम सों सरित चलि सिन्धु दिशि ज्यों जाति;
एक पाछे एक उठति तरंग तार लगाय,
एक हैं सब, एक सी पै परति नाहिं लखाय।

तरणिकर लहि सोइ लुप्त तरंग पुनि कहुँ जाय
धुवा से घन की घटा ह्वै गगन में घहराय,
आर्द्र ह्वै नगशृङ्ग पै पुनि परति धारासार;
सोइ धार तरंग पुनि—नहिं थमत यह व्यापार।

जानिवो एतो वहुत—भू स्वर्ग आदिक धाम
सकल माया दृश्य हैं, सव रूप हैं परिणाम ।
रहत घूमत चक्र यह श्रमदुःखपूर्ण अपार,
थामि जाको सकत कोऊ नाहिं काहु प्रकार ।

वंदना जनि करौ, ह्वैहै कछु न वा तम माहिं ;
शून्य सोँ कछु याचना जनि करौ, सुनिहै नाहिं ।
मरौ जनि पचि और हू मन ताप आप बढ़ाय
क्लेश नाना भाँति के दै व्यर्थ तनहिं तपाय ;

चहौ कछु असमर्थ देवन सोँ न भेंट चढ़ाय
स्तवन करि वहु भाँति, वेदिन वीच रक्त वहाय ।
आप अंतस् माहिं खोजौ मुक्ति को तुम द्वार ।
तुम वनावत आप अपने हेतु कारागार ।

शक्ति तुम्हरे हाथ देवन सोँ कछू कम नाहिं ।
देव, नर, पशु आदि जेते जीव लोकन माहिँ
कर्मवश सब रहत भरमत वहत यह भवभार,
लहत सुख औ सहत दुख निज कर्म के अनुसार ।

गयो जो है, वाहि सोँ उत्पन्न जो अब होत,
होयहै जो खरो खोटो सोउ ताको गोत ।

देवगण जो करत नंदनवन वसंत-विहार
पूर्व पुण्य पुनीत को फल कर्मविधि अनुसार ।

प्रेत ह्वै जो फिरत अथवा नरक में विललात
भोग सोँ दुष्कर्म को क्षय ते करत हैँ जात ।
क्षणिक है सब—पुण्यबल हू अंत छीजत जाय ।
पाप हू फलभोग सोँ है सकल जात नसाय ।

रह्यो जो अति दीन श्रम सोँ पेट पालत दास
पुण्यबल सोँ भूप ह्वै सो करत विविध विलास ।
ह्वै परी वा बनि परी नहिँ बात ताके हेत
रह्यो नृप जो, भीख हित सो फिरत फेरी देत ।

चलत जात अलक्ष्य जौ लौँ चक्र यह अविराम
कहाँ थिरता शांति तौ लौँ औ कहाँ विश्राम ?
चढ़त जो सो गिरत औ जो गिरत सो चढ़ि जात ।
रहत घूमत आर थमत न एक छन, हे भ्रात !

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

बँधे चक्र में रह्यौ मुक्ति को मार्ग न पाई
ह्वै न सकत यह—अखिल सत्व नहिं ऐसो, भाई !

नित्य वद्ध तुम नाहिं वात यह निश्चय धारो,
सब दुःखन सों सबल, भ्रात ! संकल्प तिहारो ।
दृढ़ ह्वै कै जो चलौ, भलो जो कछु बनि ऐहै
क्रम क्रम सों सो और भलोई होतहि जैहै ।
सब बंधुन की आँसुन में निज आँसु मिलाई
हौं हूँ रोवत रह्यौं कबहुँ जैसे तुम, भाई !
फाटत मेरो हियो रह्यो लखि जगदुख भारी ;
हँसौं आज सानंद बुद्ध ह्वै बंधन टारी ।
'मुक्तिमार्ग है' सुनौ मरत जो दुख के मारे !
अपने हित तुम आपहि दुख विढ़वत हौ सारे ।
और कोउ नहिं जन्म मरण में तुम्हैं बझावत,
और कोउ नहिं बाँधि चक्र में तुम्हैं नचावत,
काहू के आदेश सों न भेंटत हौ पुनि पुनि
तापआर औ अश्रुनेमि औ असत्-नाभि चुनि ।
सत्य मार्ग अब तुम्हैं बतावत हौं अति सुंदर ।
स्वर्ग नरक सों दूर, नछत्रन सों सब ऊपर
ब्रह्मलोक तें परे सनातन शक्ति विराजति
जो या जग में 'धर्म' नाम सों आवति बाजति,
आदि अंत नहिं जासु, नियम हैं जाके अविचल
सत्वोन्मुख जो करति सर्गगति संचित करि फल

परस तासु प्रफुल्ल पाटल माहिँ परत लखाय,
सुघर कर सोँ तासु सरसिज-दल कढ़त छवि पाय।
पैठि माटी बीच बीजन में बगरि चुपचाप
नवल वसन वसंत को सो विनति आपहि आप।

कला ताकी करति है घनपुंज रंजित जाय।
चंद्रिकन पै मोर की दुति ताहि की दरसाय।
नखत ग्रह में सोइ; ताही को करैं उपचार
दमकि दामिनि, वहि पवन औ मेघ दै जलधार।

घोर तम सोँ सृज्यो मानव हृदय परम महान्,
क्षुद्र अंडन में करति कलकंठ को सुविधान।
क्रिया में निज सदा तत्पर रहति, मारग हेरि
काल को जो ध्वंस ताको करति सुंदर फेरि।

तासु वर्तुल निधि रखावत चाप नीड़न जाय
छात में छः पहल मधुपुट पूर्ण तासु लखाय।
चलति चींटी सदा ताके मार्ग को पहिचानि;
और श्वेत कपोत हू हैं उड़त ताको जानि।

गरुड़ सावज लै फिरत घर वेग सोँ जा काल
शक्ति सोई है पसारति तासु पंख विशाल।

है पठावति वृकजननि को सोइ शावक पास ।
चहत जिन्हैं न कोउ तिनको करति सोइ सुपास ।

नाहिँ कुंठित होति कैसहु करन में व्यवहार;
होत जो कछु जहाँ सो सब तासु रुचि अनुसार ।
भरति जननिउरोज में जो मधुर छीर रसाल
धरति सोई व्यालदशनन बीच गरल कराल ।

गगनमंडप बीच सोई ग्रह नछत्र सजाय
बाँधि गति, सुर ताल पै निज रही नाच नचाय ।
सोइ गहरे खात में भूगर्भ भीतर जाय
स्वर्ण, मानिक, नीलमणि की राशि धरति छपाय ।

हरित वन के बीच उरझी रहति सो दिन राति,
जतन करि करि रहति खोलति निहित नाना भाँति ।
शालतरु तर पोसि बीजन और अंकुर फोरि
कांड, कोँपल, कुसुम विरचति जुगुति सोँ निज जोरि ।

सोइ भच्छति, सोइ रच्छति, वधति, लेति बचाय ।
फलविधानहिं छाँड़ि औ कछु करन सो नहिँ जाय ।
प्रेम जीवन सूत ताके जिन्हैं तानति आप;
तासु पाई और ढरकी हैं मरण औ ताप ।

सो बनावति औ बिगारति सब सुधारति जाय ।
रह्यो जो, तासों भलो है बन्यो जो अब आय ।
चलत करतब भरो ताको हाथ यों बहु काल
जाय कै तब कतहुँ उतरत कोउ चोखो माल ।

कार्य्य हैं ये तासु गोचर होत जो जग माहिँ ।
और केती हैं अगोचर वस्तु गिनती नाहिँ ।
नरन के संकल्प, तिनके हृदय, बुद्धि, विचार
धर्म के या नियम सोँ हैं बँधे पूर्ण प्रकार ।

अलख करति सहाय, साँचो देति है करदान ।
करति अश्रुत घोष घन की गरज सोँ बलवान ।
मनुज ही की बाँट में हैं दया प्रेम अनूप ;
युगन की बहु रगर सहि जड़ ने लह्यो नररूप ।

शक्ति की अवहेलना जो करै ताकी भूल ।
विमुख खोवत, लहत सो जो चलत है अनुकूल ।
निहित पुण्यहि सोँ निकासति शांति, सुख, आनंद ।
छपे पापहि सोँ प्रगट सो करति है दुखद्वंद ।

आँखि ताकी रहति है नहिँ रहै चाहै और ;
सदा देखति रहति जो कछु होत है जा ठौर ।

करौ जेतो भलो तेतो लहौ फल अभिराम ।
करौ खोटो नेकु ताको लेहु कटु परिणाम ।

क्रोध कैसो ? क्षमा कैसी ? शक्ति करति न मान ।
ठीक काँटे पै तुले सब होत तासु विधान ।
काल की नहिं बात ; चाहे आज अथवा कालि
देति प्रतिफल अवसि सो निज नियम अविचल पालि ।

याहि विधि अनुसार घातक मरत आपहि मारि,
क्रूर शासक खोय अपनो राज बैठत हारि,
अनृतवादिनि जीभ जड़ ह्वै रहति बात न पाय,
चोर ठग हैं हरत धन पै भरत दूनो जाय ।

रहति शक्ति प्रवृत्त सत् की लीक थापन माहिँ ;
थामि अथवा फेरि ताको सकत कोऊ नाहिँ ।
पूर्णता औ शांति ताको लक्ष्य, प्रेमहि सार ।
उचित है, हे बन्धु ! चलिबो ताहि के अनुसार ।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

कहत हैं सब शास्त्र कैसी खरी चोखी बात—
होत जो या जन्म में सब पूर्व को फल, भ्रात !

पूर्व पापन सों कढ़त हैं शोक, दुःख, विषाद ।
होत जो सुख आज सो सब पूर्व-पुण्य-प्रसाद ।

ववत जो सो लुनत सब ; वह लखौ खेत दिखात
अन्न सौं जहँ अन्न उपजत, तिलन सौं तिल, भ्रात !
महाशून्य अपार परखत रहत सब संसार ।
मनुज को है भाग्य निर्मित होत याहि प्रकार ।

बयो पहले जन्म में जो अन्न तिल वगराय
सोइ काटन फेरि आवत जीव जन्महिं पाय ।
बेर और बबूर, कंटक झाड़, विष की बेलि
गयो जो कछु रोपि सो लहि मरत पुनि दुख झेलि ।

किन्तु तिनको जो उखारै लाय उचित उपाय
और तिनके ठौर नीके बीज रोपत जाय
स्वच्छ, सुन्दर, लहलही ह्वै जायहै भू फेरि,
प्रचुर राशि बटोरि सो सुख पायहै पुनि हेरि ।

पाय जीवन लखै जो दुख कढ़त कित सौं आय,
सहै पुनि धरि धीर तन पै परत जो कछु जाय ;
पाप को वा कियो जो सब पूर्व जीवन माहि
सत्य सम्मुख दंड पूरो भरै, हारै नाहिं ;

अहंभाव निकासि होवै निखरि निर्मलकाय;
स्वार्थ सोँ नहिँ तासु रंचक काहु को कछु जाय ;
नम्र ह्वै सब सहै ; कोऊ करै यदि अपकार
पाय अवसर करै ताको बनै जो उपकार ;

होत दिन दिन जाय सो यदि सदय, पावन, धीर,
न्यायनिष्ठ, सुशील, साँचो, नम्र औ गंभीर ;
जाय तृष्णा को उखारत मूल प्रति छन माहिँ
होय-जीवन वासना को नाश जौ लौँ नाहिँ ;

मरे पै तब तासु रहिहै अशुभ को नहिँ चूर ;
जन्म को लेखो सकल चुकि जायहै भरपूर ;
जायहै शुभ मात्र रहि ह्वै सबल बाधाहीन ;
पाय फल सो परम मंगल माहिँ ह्वैहै लीन ।

जाहि जीवन कहत तुम सो नाहिँ पैहै फेरि ।
लगो जो कछु चलो आवत रह्यो वाको घेरि
गयो चुकि सो ; भयो पूरो लक्ष्य सो गंभीर
मिलो जाके हेतु वाको रह्यो मनुज-शरीर ।

नाहिँ ताहि सतायहै पुनि वासना को जाल
और किल्विष हू कलंक लगायहै नहिँ भाल ।

जगत् के सुख दुख न सो चिर शांति करिहैं भंग,
जन्म मरण न लागिहै पुनि और ताके संग ।

पायहै सो परम पद निर्वाण पूर्ण प्रकार;
नित्य जीवन माहिँ मिलिहै होय जीवन पार;
होयहै निःशेष ह्वै सो धन्य, भ्रमिहै नाहिँ—
जाय मिलिहै ओसबिंदु अनंत अंबुधि माहिँ ।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

ओं मणिपद्मे हुं

कर्म को सिद्धांत है यह, लेहु याको जानि ।
पाप के सब पुंज की ह्वै जाति है जब हानि,
जात जीवन जबै सारो लौ समान बुताय
तबै ताके संग ही यह मृत्यु हू मरि जाय ।

'हम रहे', 'हम हैं', 'होयँगे हम' कहौ जनि यह बात;
समझौ न पथिकन सरिस पल के घरन में बहु, भ्रात!
तुम एक छाँड़त गहत दूजो करत आवत बास
सुधि राखि अथवा भूलि जो कछु होत दुःख सुपास ।

*रहि जात है कछु नाहिं प्राणी मरत है जा काल;
चैतन्य अथवा आतमा नसि जात है ज्यों ज्वाल।
रहि जात केवल कर्म ही हैं शेष विविध प्रकार;
बहु खंड तिनसों लहत उद्भव जन्म जोरनहार।

जग माहिँ तिनको योग प्रगटत जीव एक नवीन;
सो आप अपने हेतु घर रचि होत वामें लीन।
ज्यों पाटवारो कीट आपहि सूत कातत जाय
पुनि आप वामें बसत है जो लेत कोश बनाय।

सो गहत भौतिक सत्व औ गुण आपही रचि जाल—
ज्यों फूटि विषधर-अंड केंचुर दंष्ट्र गहत कराल;
ज्यों पत्तधर शरबीज घूमत उड़त नाना ठौर,
लहि वारितट कहुँ बढ़त, फेंकत पात, धारत मौर।

---

* इसके पहले के पद्य में बौद्धों के जिस दार्शनिक मत का आभास है उसे स्पष्ट करने के लिए यह पद्य अपनी ओर से जोड़ा गया है। बौद्ध लोग आत्मा को नश्वर मानते हैं; उसे अमर नहीं मानते। इससे कर्मवाद को विलक्षण रीति से उन्होंने अपने मत के अनुकूल किया है। प्राणी की मृत्यु होने पर उसके सब खंड—आत्मा आदि सब—नष्ट हो जाते हैं; केवल कर्म शेष रह जाते हैं जिनसे फिर नए नए खंडों की योजना होती है और एक नया प्राणी उत्पन्न होता है। पिछले प्राणी के साथ इस नए प्राणी का कर्मसूत्रसंबंध रहता है, इससे दोनों को एक ही प्राणी कह सकते हैं।

या नए जीवन की प्रगति शुभ अशुभ दिशि लै जाय ।
जब हनत काल कराल पुनि निज क्रूर करहि उठाय
रहि जात तब वा जीव को जो शेष शुद्धिविहीन
सो फेरि झंझावात झेलत सहत ताप नवीन ।

पै मरत है जब जीव कोऊ पुण्यवान् सुधीर
बढ़ि जाति जग की संपदा कछु, बहत सुखद समीर ।
मरु भूमि की ज्यौं धार बालू बीच जाति विलाय
ह्वै शुद्ध निर्मल फेरि चमकति कढ़ति है कहुँ जाय ।

या भाँति अर्जित पुण्य अर्जित करत है शुभ काल;
यदि पाप ताको देत बाधा रुकति ताकी चाल ।
पै धर्म सब के रहत ऊपर सदा या जग माहिँ ;
कल्पांत लौं विधि चलति ताकी, कबहुँ चूकति नाहिँ ।

तम ही तुम्हैं भव बीच डारत है अविद्या छाय,
तुम जाल में परि जासु झूठे दृश्य सत् ठहराय
हौ करत तृष्णा लहन की, औ लहि तिन्हैं फँसि जात
बहु रूप रागन माहिँ जो हैं करत तुमसौं बात ।

जे 'मध्यमा प्रतिपदा'* को गहि होन चाहैं पार—
पथ जासु प्रज्ञा खोजि काढ़ति, शांति करति सुढार—

---

* कामसुख आदि विषयों का सेवन और शरीर को क्लेश देना इन दोनों अंतों का त्याग और मध्यम मार्ग का ग्रहण ।

निर्वाणपथ की ओर चाहैं चलन जे चित लाय
ते सुनैं, अब हौं कहत चारो 'आर्य्य सत्य' बुझाय।

प्रथम तो है 'दुःख सत्य' न तुम्हैं जासु बिचार,
परम प्रिय जीवन तुम्हैं सो दीर्घ दुख को भार।
क्लेश ही रहि जात हैं, सुख परत नाहिँ जनाय,
आय पंछी से कबहुँ उड़ि जात झलक दिखाय।

जातिदुःख अपार, शैशव दशा को दुख घोर,
दुःख यौवन ताप को, श्रमदुःख फेरि कठोर,
दुःख दारुण जरा को, पुनि मरणदुःख कराल,
दुःख में या भाँति सिगरो जात जीवनकाल।

प्रेम है अति मधुर; पै सो अधर जो न अघात
और परिरंभित पयोधर लपट सोँ लपटात।
अवसि संगरशूरता अति परति भव्य लखाय,
किंतु वीर नरेंद्र के भुज गीध नोचत जाय।

लसति सुन्दर वसुमती, पै लखौ नयन उठाय
एक एकहि हतन की कत रहत घात लगाय!
लगत नीलम सरिस नभ, पै देत बूँद न डारि
अन्न विनु जब लोग व्याकुल मरत त्राहि पुकारि।

व्याधि सों वा शोक सों जे विकल औ बिललात,
टेकि लाठी लुढ़त परिजनत्यक्त जे नतगात,
लगत जीवन तिन्हैं कैसो नेक पूछौ जाय ;
कहत ते "शिशु विज्ञ, रोवत जन्म जो यह पाय।"

'दुःख समुदय' सत्य दूजो धारियो मन माहिं ।
कौन ऐसो क्लेश तृष्णा सों कढ़त जो नाहिं ?
आयतन औ स्पर्श* बहु विधि मिलत हैं जब जाय
कामतृष्णा आदि की तब ज्वाल देत जगाय ।

जगति तृष्णा काम की, भव विभव की या भाँति।
स्वप्न में तुम रहत भूले, गहत छायापाँति ।
अहं को आरोप तिनके बीच करत भुलाय,
जगत् ठाढ़ो करत तासु प्रतीति यों उपजाय ।

लखत तासों परे नहिं औ सुनत नहिं तुम, भ्रात !
मधुर स्वर जो इन्द्रलोकहु सों परे लहरात ।
'असत् को तजि सत्य जीवन गहौ सहित विवेक'
धर्म की या हाँक पै तुम कान देत न नेक ।

---

*बौद्ध शास्त्रों में मन सहित पांच इन्द्रियों के समूह को षडायतन और विषयों को स्पर्श कहते हैं ।

विभवतृष्णा देति या भू बीच कलह पसारि ।
करत विलखि विलाप वंचित दीन आँसू ढारि ।
काम, क्रोध लखात ईर्षा, द्वेष, हिंसा, घात ।
रक्त में सनि वर्ष पाछे वर्ष धावत जात।

जहाँ चाहत रह्यो उपजै अन्न सुख सरसाय
फैलि कलियारी तहाँ विषमूल रही बिछाय,
क्रूर कटुता सों भरे निज फूल रही दिखाय ।
जहाँ नीके बीज जामैं ठौर सो न लखाय ।

माति विष सों जात जग सों जीव त्यागि शरीर
तृषा-आतुर फेरि लौटत कर्मधारा तीर ।
आयतनगत, कर्मबीजन सों सनो, अमलीन
चलत है पुनि अहं, माया मिलति और नवीन ।

सत्य 'दुःखनिरोध' नामक तीसरो है, भ्रात!
विजय तृष्णा पै लहै करि सकल रागनिपात ।
मूलबद्ध कुवासना मन सों समस्त उखारि
करै अंतस के उपद्रव शांत धीरज धारि ।

प्रेम याही—नित्य सुषमा हेरि तन मन देय ;
और यहै प्रताप —आपहिं जीति वश करि लेय ;

यहै अति आनन्द—देवन सों परे ह्वै जाय ;
अतुल संपति यहै --राखै नित्य निधिहि जुटाय ।

नित्य निधि यह जुरति कीने दया औ उपकार,
दान, मृदुता, मधुर भाषण, और शुचि व्यवहार ।
अछय धन यह जाय जोरत सदा जीवन माहिँ,
लोक में परलोक में कहुँ छीजिहै जो नाहिँ ।

दुःख को यों अंत ह्वैहै आपही वा काल
जन्म को औ मरण को जब छूटिहै जंजाल ।
जायहै चुकि तेल उठिहै दीप लौ किहि भाँति ?
जायहै रहि बस अनालय मुक्ति की शुभ शांति ।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

'मार्ग' नाम को 'आर्य्य सत्य' अब चौथो आवै,
सब के चलिवे जोग सुगम जो पंथ सुहावै ।
सुनौ 'आर्य्य अष्टांग मार्ग' यह है अति सुंदर
सूधो जो चलि गयो शांति की ओर निरंतर ।
गए विविध पथ हिममंडित वा शुभ्र शिखर तन
जाके चहुँ दिशि लसत स्वर्णरंजित कुंचित घन ।
अति सुढार वा अति कुढार पथ गहि, हे भाई !
शांतिधाम के बीच पथिक पहुँचत वा जाई ।

सबल सकत करि पार विकट गिरिसंकट चटपट
कूदत फाँदत, गिरत परत गहि मारग अटपट ।
जे निर्बल ते पथ सुढार गहि चढ़ैं सँभारत,
बीच बीच में टिकत और बहु फेरो डारत ।
ऐसो है 'अष्टांग मार्ग' यह अति उजियारो,
शांतिधाम के बीच अंत पहुँचावनहारो ।
दृढ़ संयम संकल्प होत हैं जिनके, भाई!
पहुँचि जात ते जीव शीघ्र चढ़ि खड़ी चढ़ाई ।
पै निर्बल हू धीरे धीरे आशा धारे
चलत रहत यदि पहुँचि जात कबहूँ बेचारे ।

पहलो 'सम्यक् दृष्टि' अंग या मारग केरो ।
राखि धर्मभय चलौ, पाप सों करौ निबेरो ।
मानौ कर्महि सार भाग्य उपजावनहारो ।
इंद्रिन को वश राखि विषयवासना निवारो ।
पुनि 'सम्यक् संकल्प' दूसरो अंग सुहावै ।
सब जीवन को हित चित सों ना कबहूँ जावै ।
क्रोध लोभ करि दमन, क्रूरता मारौ सारी;
मृदु समीर सी जीवनगति ह्वै जाय तुम्हारी ।
'सम्यक् वाचा' अंग तीसरो मन में धारौ;
भीतर राजा बसत अधरपट समझि उघारौ ।

मुख सों बाहर कढ़ैं शब्द जो कबहुँ तुम्हारे
शांत, मधुर, प्रिय औ विनीत ते होवैं सारे।
पुनि 'सम्यक् कर्मांत' अंग चौथो जो लैहौ
साधत साधत सुकृत कर्मक्षय-मारग पैहौ।
क्रिया तुम्हारी होयँ जगत् में जेती सारी
शुभ को बाढ़न देयँ, अशुभ को देयँ उखारी।
फटिक-पोत के बीच स्वर्णगुण झलकत जैसे
शुभ कर्मन बिच प्रेम तुम्हारो झलकै तैसे।
पुनि 'सम्यक् आजीव' पाँचवों अंग कहावै;
करौ जीविका क्लेश नाहिं कोउ जासों पावै।
गहि 'सम्यक् व्यायाम' शिथिलता दूर हटाओ
करौ उचित श्रम तन मन में जनि आलस लाओ।
'सम्यक् स्मृति' बिनु ज्ञान सकत नहिं थिरता पाई;
धारौगे जो आज जायगो कालि पराई।
सात अंग ये साधि लहत 'सम्यक् समाधि' नर;
सुख दुख दोऊ माहिं अचंचल रहत निरंतर।
यों सम वृत्तिहि पाय चित्त एकाग्र लगावत
जो जो मुक्ति उपाय तिन्हैं सब गुनत यथावत्।

शक्ति प्राप्त बिनु किए उड़ौ ना ऊपर धाई
नीचे ही सों चलौ कर्म साधत सब, भाई!

जो थल जानो सुनो प्रथम वाही को धरिए।
शक्ति प्राप्त जब होय गमन ऊपर को करिए।
अति प्रिय पुत्र कलत्र होत यह लेहु विचारी।
बहु आहार विहार, सखा कैसे सुखकारी!
दान दया हैं सुंदर फल उपजावनहारे।
जमे चित्त में यदपि तदपि भय झूठे सारे।
ऐसो जीवन गहौ होयहै मंगलकारी।
दलि पायँन तर पाप रचौ सोपान सँवारी।
माया के बिच पंथ निकासत अपनो सुंदर
बढ़त जाव तुम सत्य धर्म की ओर निरंतर।
या विधि ऊँची भूमिन पै तुम कढ़त जायहौ,
पापभार निज हरुओ औ गति सुगम पायहौ।
होत जायहै दृढ़तर यों संकल्प तिहारो,
क्रमशः बंधन तजत पंथ पैहौ उजियारो।
मुक्तिमार्ग की प्रथम अवस्था जो यह पावै
सो अधिकारी नर 'स्रोत:आपन्न' कहावै।
सब अपाय भय खोय सदा शुभ करत जायहै
मंगलमय निर्वाण धाम सो अंत पायहै।
फेरि अवस्था है द्वितीय 'सकृदागामी' की;
हटत तीन प्रतिबंध, लहति मति गति अति नीकी।
हिंसा औ आलस्य काम सो दूर करत है
एक जन्म बस और ताहि पुनि धरन परत है।

फेरि तीसरी दशा 'अनागामी' की पावत,
तजि विचिकित्सा मोह 'पंच प्रतिबंध'* नसावत।
जनमत नहिं या कामलोक में पुनि सो आई;
ब्रह्मलोक में लहत जन्म यह लोक विहाई।
'अर्हत्' को पुनि परति अवस्था सब सों ऊपर;
जन्म आदि को बंधन नहिं रहि जात लेश भर।
सब दुःखन सों परे, मुक्त माया सों सारी
होत बुद्धगण आए या पद के अधिकारी।

जैसे वा हिमशृङ्ग बीच बैठैं जो वाँके
छाँड़ि नील नभ ओर नाहिं कछु ऊपर ताके
तैसे जो प्रतिबंध पाँच ये देत नसाई
पहुँचि जात निर्वाणधाम के तट पै जाई।
नीचे ताके परे ताहि सुरगण सिहात सब;
तीन लोक को प्रलय होय पै डिगै न सो तब।
सब जीवन है तासु, मृत्यु मरि जाति ताहि हित;
ताके नहिं पुनि कर्म बनैहैं नए भवन नित।
चाहत सो कछु नाहिं, लहत पै सब कछु निश्चय;
अहं भाव तजि देखत है सब जगत् आत्ममय।
यदि कोऊ यह कहै "नाश निर्वाण कहावत"
बोलौ तासों "झूठ कहत तुम, भेद न पावत।"

*पंच प्रतिबंध—आलस्य, हिंसा, काम, विचिकित्सा, मोह।

कहै कोउ यदि "जीबो ही निर्वाण कहावत"
वासोँ तुम यह कहौ "व्यर्थ तुम भ्रम उपजावत।"
जाको कोऊ सुनि समुझै वा कहि समुझावै
ऐसो है सो नाहिँ, व्यर्थ क्योँ वाद बढ़ावै ?
टिमटिमात जो जीवनदीपक को उजियारो
ताके आगे ज्योति कहा, को जाननहारो ?
लसत परे अति काल-जन्म-बंधन सों जो है
कैसो सो आनंद सकै कहि ऐसो को है ?



गहौ मार्ग यह—दुख न द्वेष सोँ बढ़ि जग माहीँ,
क्लेश राग सोँ, धोखो इन्द्रिन सोँ बढ़ि नाहीँ।
मुक्तिमार्ग पै गयो दूर बढ़ि सो पुनीत नर
जाने एकहु पाप दल्यो अपने को रुचिकर।
गहौ मार्ग यह—याही में सो सुधास्रोत है
जासोँ सारी प्यास बुझति, श्रम दूर होत है;
याही में वे अमरकुसुम हैं खिले मनोहर
हासमयी गति करत जात जो बिछि पाँयन तर;
याही में वे घरी परैं सुख की, हे भाई!
परम मधुर जो, जात परैं नहिँ कतहुँ जनाई।

शिक्षमाण ये धर्मरत्न सबसों बढ़ि जानौ
और सुधाहू सों इनको अति मधुर प्रमानौ—

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

दया के नाते करौ जनि जीवहिंसा, भ्रात!
क्षुद्र तें अति क्षुद्र ये जो जीव हैं दरसात
करत पूरो भोग ऊँचे जात पंथ सुधारि
देहु तुम इनको न बाधा बीच ही में मारि।

बनै जो कछु देहु औ तुम लेहु या जग माहिँ।
लोभ सों छलबल सहित पै लेहु तुम कछु नाहिँ।
देहु झूठी साखि ना, जनि करौ निंदा, जानि।
सत्य बोलौ, सत्य ही है शुद्धता की खानि।

पियौ ना मद, देत बुद्धि नसाय जो हरि ज्ञान।
शुद्ध जो मन कहा ताको सोमरस को पान?
दीठि लाश्रो ना पराई नारि पै लहि घात,
करौ इंद्रिन को न अपने पाप में रत, भ्रात!

———

कपिलवस्तु में वसि पुरजन परिजन समाज लहि
सारी निशि भगवान् करत उपदेश गए रहि ।
काहू को वा रैन नींद नयनन में नाहीं
ऐसे सब ह्वै गए मग्न प्रभुबचनन माहीं !
बोलि चुके जब बुद्ध भूप तब सम्मुख आयो,
चीवर माथे लाय विनय सों सीस नवायो ।
बोल्यो "हे सुत !" सँभरि कह्यो पुनि यों "हे भगवन् !
मोहू को लै लेहु 'संघ' में मानि तुच्छ जन ।"
और सुन्दरी गोपा ह्वै आनंदमग्न तब
बोली प्रभु सों "हे मंगलमय ! राहुल को अब
देहु दया करि दाय मानि याको अधिकारी,
'उपसंपदा' * गहाय करौ प्रभु याहि सुखारी ।"
या प्रकार सों शाक्य राजकुल के तीनो जन
धर्ममार्ग में करि प्रवेश ह्वै गए शांतमन ।

———

तथागत ने भाखि दीने धर्म के सब अंग ।
पिता, माता, बंधु, बांधव, इष्ट मित्रन संग
चाहिए व्यवहार कैसो कह्यो सब समझाय
यों गृहस्थ उपासकन को दियो धर्म बताय ।
छोरि बंधन सकै इन्द्रिन के न जो तत्काल,
होयँ पाँव अशक्त जाके, चलै धीमी चाल ।

---

* बौद्ध लोग श्रमण या भिक्षु धर्म की दीक्षा को उपसंपदा कहते हैं ।

चलै संयम नियम सों यों दयाधर्म निवाहि
जायँ कल्मषहीन दिन सब, लगै पाप न ताहि।

चलत जे या भाँति ह्वै कै शुद्ध औ गंभीर,
दयावान्, सुजान, श्रद्धावान् औ अति धीर,
आप से गुनि छोह जीवन पै सकल दरसाय,
धरत ते 'अष्टांगपथ' पै पाँव पहलो जाय।

दुःख वा सुख होत है जो जीव को जग माहिँ
अशुभ वा शुभ कर्म को फल, और है कछु नाहिँ।
स्वार्थ छाँड़ि गृहस्थ जेतो करत जग-उपकार
होत तेतो सुखी जनमत जबै दूजी बार।

एक दिन प्रभु रहे यों हो वेणुवन दिशि जात;
लख्यो एक गृहस्थ ठाढ़ो न्हाय निर्मलगात,
जोरि कर नभ ओर नावत सीस वारंवार,
फेरि वंदन करत धरती को अनेक प्रकार,

पढ़त मुहँ सों कछुक अच्छत हाथ सों छितराय
घूमि चारो दिशा को पुनि सिर नवावत जाय।
बुद्ध ने तब जाय तासु समीप पूछी बात
"रहे हौ सिर नाय क्यों या भाँति तुम, हे भ्रात?"

कह्यो "पूजन करत हौं मैं नित्य उठि, भगवान्!
देव पितर मनाय चाहत आपनो कल्यान।"
कह्यो जगदाराध्य "अच्छत क्यों रहे बगराय?
दया प्रेम न क्यों पसारत सब जनन पै जाय?

मातु पितु को मानि पूरब कढ़ति जहँ सोँ ज्योति;
गुरुहि दच्छिण मानि जहँ सोँ प्राप्ति निधि की होति;
पुत्र पत्निहिं मानि पश्चिम शांति जहँ द्युतिमान्,
होत जहँ अनुराग के बिच दिवस को अवसान;

बंधु बांधव, इष्ट मित्रन को उदीची मानि
भक्ति, श्रद्धा, प्रेम अपनो तुम पसारौ जानि।
छुद्र जीवन पै दया तुम धरौ निज मन माहिँ;
यहै पूजन अवनि चाहति, और यह सब नाहिँ।

स्वर्ग में जो बसत हैं सब देव पितर महान्
रखौ तिनमें भक्ति, चहिए नाहिँ और विधान।
चलौगे या रीति पै जो गृही-जीवन माहिँ
होयगी रच्छा तुम्हारी, रहैगो भय नाहिँ।"

शिच्छा याही भाँति 'संघ' को अपने दीनी।
धर्मव्यवस्था प्रभु ने भिच्छुन के हित कीनी,

करत व्योम में जो विहार नाना विधि जाई
जागे पंछिन सरिस विषयकोटरन विहाई।
सिखै तिन्हैं 'दशशील'[१] सात 'वोध्यंग'[२] वताए;
'ऋद्धिपाद'[३] के द्वार, 'पंचवल'[४] कहि समझाए;
औ 'विमोक्ष सोपान'[५] आठ सुंदर दरसाए;

---

१ दशशील—हिंसा, स्त्येन, व्यभिचार, मिथ्याभाषण, प्रमाद, अपराह्णभोजन, नृत्यगीतादि, मालागंधादि, उच्चासन शय्या और द्रव्यसंग्रह का त्याग।

२ बोध्यंग—स्मृति, धर्मप्रविचय (पुण्य), वीर्य्य, प्रीति, पश्रब्धि, समाधि और अपेक्षा।

३ ऋद्धिपाद—अर्थात् असामान्य क्षमता की प्राप्ति

४ पंचवल—श्रद्धावल, समाधिवल, वीर्य्यवल, स्मृतिवल और प्रज्ञावल।

५ अष्टविमोक्षसोपान—(१) रूपभावना के कारण वाह्य जगत् में रूप दिखाई पड़ना (२) मन में रूप भावना न रहने पर भी वाह्य जगत् में रूप दिखाई पड़ना (३) न मन में रूप भावना रहना न वाह्य जगत् में रूप दिखाई पड़ना (४) रूपलोक अतिक्रमण कर अनंत आकाश की भावना करते हुए 'आकाशानंत्यायतन' में विहार (५) आकाशानंत्यायतन का अतिक्रमण कर अनंत विज्ञान की भावना करते हुए विज्ञानानंत्यायतन' में विहार (६) विज्ञानानंत्यायतन का अतिक्रमण कर 'अकिंचन' (कुछ नहीं) की भावना करते हुए अकिंचन्यायतन में विहार (७) अकिंचन्यायतन का अतिक्रमण कर नैवसंज्ञानैवासंज्ञायतन (ज्ञान और अज्ञान दोनों नहीं) की भावना करते हुए नैवसंज्ञानैवासंज्ञायतन में विहार (८) अंत में ज्ञान औ ज्ञाता दोनों का निरोध कर 'संज्ञावेदयितृ' उपलब्ध करना।

'ध्यान चतुर्विध'[1] तिनको व्याख्या सहित बुझाए—
जीव हेतु जो परम मधुर हैं अमृतहु सों बढ़ि,
जिनको लहि सो सकत चार भवसागर सों कढ़ि।
'मैत्री', 'करुणा' औ 'उपेक्षा' मुदिता'[2] चारौ
अंग भावना के कहि बोले "इनको धारौ।"
शिक्षमाण[3] दै रत्न अंत भिक्षुन को सारे
बोले 'त्रिशरण'[4] गहौ, मार्ग पै चलौ हमारे।"
भिक्षुन के आचार नियम हू सब निर्धारे,
रहैं राग औ विषय भोग सों कैसे न्यारे।
रहन सहन औ खान पान, परिधान बताए।
तिनके हित परिधेय तीन चीवर ठहराए—
'अंतरवासक' रहै एक, पुनि ताके ऊपर
धरैं 'उत्तरासंग' और 'संघाति' अंग पर।
राखैं भिक्षापात्र संग में औ शयनासन
और अधिक जंजाल बढावैं नाहिँ भिक्षुजन।
या विधि श्रीभगवान् गए निज 'संघ' बनाई
जो अब लौं चलि जात जगत् की करत भलाई।

१—आठ विमोक्ष सोपानों में से तीसरे से सातवें तक को चतुर्विध ध्यान कहते हैं।

२—मुदिता = संतोष।

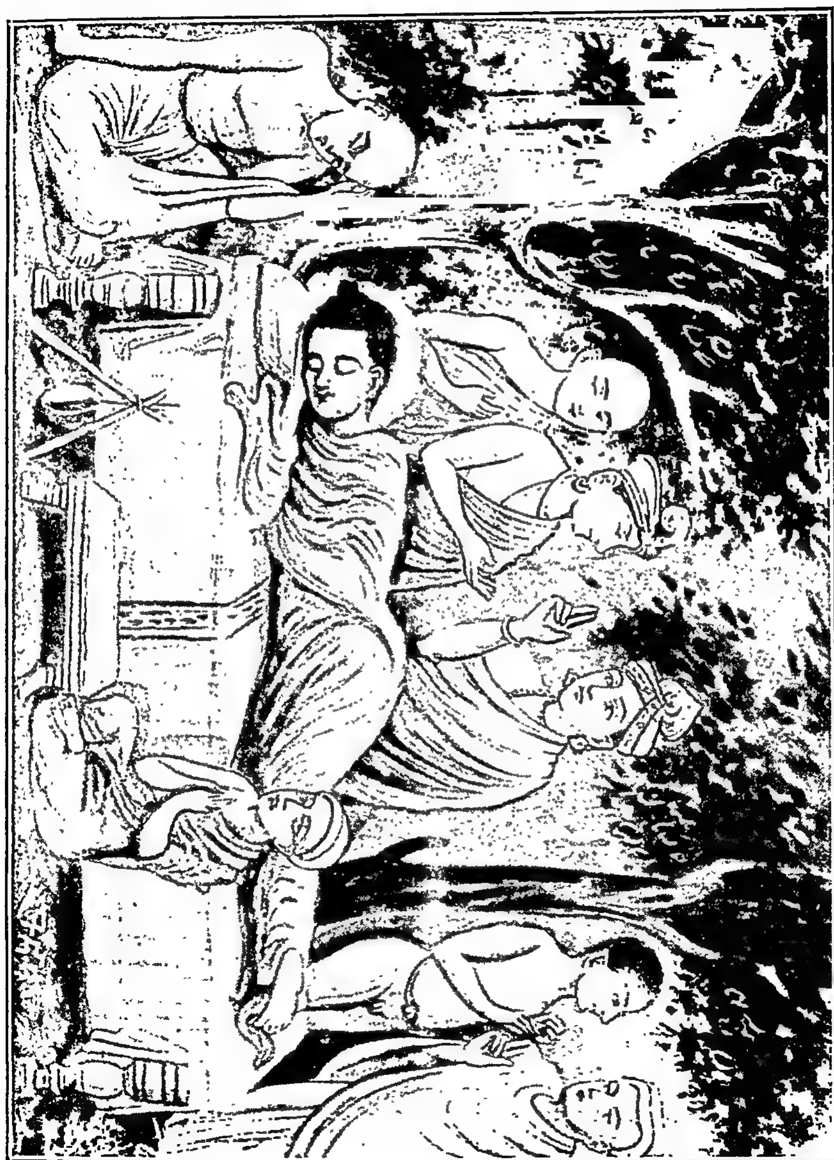
३—मार्ग, ऋद्धि, बल आदि सब मिलकर सप्तत्रिंशच्छिक्षमाण धर्म कहलाते हैं

४—बुद्ध, धर्म और संघ की शरण में जाना।

परिनिर्वाण

नाना देशन माहिँ आपनो 'संघ' बनावत
घूमि घूमि भगवान् रहे निज वचन सुनावत।
कबहुँ राजगृह और कबहुँ वैशाली जाई,
कौशांबी औ श्रावस्ती मैं कछु दिन छाई,
'चातुर्मास्य' बिताय विविध उपदेश सुनावत,
भूले भटकन को सुंदर मारग पै लावत।
अधिक काल पै श्रावस्ती ही माहिँ बितायो।
जहाँ 'जेतवन' बीच धर्म बहु कहि समझायो।
पैंतालिस चौमासन लौं या धराधाम पर
प्रभु समझावत रहे धर्म के तत्व निरंतर,
जगी ज्योति जिनकी जग में ऐसी उजियारी
सब देशन को सूझि परो पथ मंगलकारी;
ध्यावत जाको जग के आधे नर हिय धारे,
आलोकित हैं जाकी आभा सौं मत सारे।
अंतकाल नियराय गयो जब एक दिवस तब
'पावा' में प्रभु जाय पधारे शिष्यन लै सब
'चुंद' नाम के कर्मकार के भवन कृपा करि।
पायो भोजन दियो सामने जो वाने धरि।
कुशीनार को गए तहाँ सौं ह्वै पीड़ित जब
द्वै साखुन के बीच डारि शय्या पौढ़े तब।

१—बौद्ध भिक्षु वर्षा या चौमासे भर एक ही स्थान पर रहते हैं।



परम शांति सों बोलि देत उत्तर जो माँगत
'परिनिर्वाण' पुनीत लह्यो भगवान् तथागत ।
मनुजन में रहि मनुज सरिस, शुभ मार्ग दिखाई
परम शून्यमय नित्य शांति में गए समाई ।

चरित भयो यह पूर्ण; कह्यो मैं जो कछु गाई
सो यह साहस मात्र भक्तिवश जानौ, भाई !
जानत थोरी बात ताहु पै कहन न जानत,
यातें अपनी चूक आपही मैं अनुमानत ।
कहाँ तथागत चरित, कहाँ लघु मति यह मेरी !
चाहौं यातें क्षमा, दया मैं प्रभु की हेरी ।
बुद्धं शरणं गच्छामि
धर्मं शरणं गच्छामि
संघं शरणं गच्छामि ।

इति
